सद्गुरवे नमः

जगन्मीमांसा

अभिलाषदास

सद्गुरवे नमः

जगन्मीमांसा

अभिलाषदास

प्रकाशक

साधु शरणपालदासजी

श्री कबीर मन्दिर, बड़हरा

पो० मद्दोबाजार

गोंडा

सत्कबीराब्द ५६८

विक्रमी सं० २०२४ सन् १९६७

प्रथमावृत्ति २०००

मूल्य रु० ७·००

मुद्रक

श्री विश्वेश्वर प्रेस, ६१।१०१

बुलानाला, वाराणसी-१

समर्पित

उन साधु-सज्जनों के कर-कमलों में, जो अपने
मत के प्रतिकूल बातों को भी सुनने में अपने
उदार एवं विशाल हृदय का परिचय
देते हैं; और सत्य की
खोज में निष्पक्ष हैं।

निवेदन

एक परमाणु दूसरे में मिलकर द्वणुक, तीसरे में मिलकर त्र्यणुक हो जाते हैं; इस प्रकार परमाणुओं के क्रमशः सम्मिलन से जगत् का निर्माण मानना—'आरम्भ-वाद' है। सत्, रज, तम की साम्यावस्था ही सांख्य का प्रधान (मूलतत्त्व) है, इसी का परिवर्तन होकर महत्, अहंकार, पांच तन्मात्र (शब्दादि पंच विषय), पंचमहा-भूत (पृथ्वी आदि) तथा मन-सहित दशों इन्द्रियाँ उत्पन्न मानना--'परिणामवाद' है। सत्तायुत द्रव्य का एक अवस्था छोड़कर दूसरी अवस्था में प्रवेश करना ही 'परिणाम' है। रज्जु में सर्प की प्रतीति के समान ब्रह्म में जगत् की मिथ्या-प्रतीति ही—'विवर्तवाद' है। ईथर में क्रिया होकर नीहारिकायें तथा उनसे ग्रह-उपग्रह बनना एवं अमीबा (एक कोषीय जन्तुओं) से मेढक, पक्षी, बन्दर तथा मनुष्यों का निर्माण मानना—'विकासवाद' है।

बीज-वृक्ष, कर्म-देह के न्याय से तथा अनादि जड़-चेतन के स्वाभाविक नित्य गुण-धर्मों से जगत् की स्थिति अनादि सिद्ध होने से, उपर्युक्त वाद कल्पित ही हैं। अत-एव जगत् का सर्वथा उत्पाद एवं विनाश मानना समी-चीन नहीं। प्रस्तुत लघुकाय ग्रन्थ में इसी विषय पर किंचित् मीमांसा की गयी है।

भारतीय से लेकर पाश्चात्त्य दार्शनिकों के जगत्-उत्पत्ति विषयक जिन मतों पर मैंने अपनी ओर से आलोचना प्रस्तुत की है, उन सभी के प्रति मेरे हृदय में श्रद्धा एवं प्रेम है। जब जीवमात्र अपने प्रियबन्धु हैं, फिर किसी के प्रति ईर्ष्या-उलझन तो हो ही कैसे सकती है ? सभी के दार्शनिक विचारों की एकता नहीं हो सकती ; परन्तु सभी मतों के उद्देश्य होने चाहिये जीव मात्र के प्रति शुद्ध प्रेम और सेवा का बर्ताव करना। हम लोगों के विचार भले अनेक हों, परन्तु हृदय एक होना चाहिये।

इस लघुकाय ग्रन्थ के परिचय के लिये भूमिका में विस्तार करना मैं समीचीन नहीं समझता; पाठकगण स्वयं ग्रन्थ में ही प्रविष्ट होकर इसका रहस्य समझने के लिये कृपया कष्ट उठावें। इस ग्रन्थ के लिखने में जिन महापुरुषों के सत्साहित्यों से मुझे कुछ भी सहायता मिली है; अथवा जो पूज्य महज्जन एवं स्नेही-बन्धु अपनी प्रेम भरी, महत्त्वपूर्ण सम्मति देकर मुझे उद्बुद्ध किये हैं, उनका मैं हृदय से आभार स्वीकार करता हुआ, उन्हें धन्यवाद देता हूँ। वाक्य-रचनादि में थोड़ी-बहुत त्रुटि होना स्वाभाविक-सी बात है। जिस किसी प्रकार की भी, अपनी त्रुटियों पर मैं विनम्र क्षमा-प्रार्थी हूँ।

वैशाख शुक्ल
२०२४

विनम्र
अभिलाषदास

विषय-सूची

पूर्वार्ध

भारतीय मत

श्रौत खण्ड — ७
स्मृतिखण्ड — ११
उपनिषद् खण्ड — १३
पुराण खण्ड — ३२
सामान्य खण्ड — ५५

विदेशीय मत

बाइबिल खण्ड — ६५
कुरान खण्ड — ७७
विकासवाद खण्ड — ८३
निष्कर्ष — १२२

उत्तरार्ध

ईश्वर-विचार — १३१
एक द्रव्य से जगत या तत्त्वों की उत्पत्ति मानना समीचीन नहीं — १४३
प्रत्यक्ष जड़-चेतन के अतिरिक्त, जगत के कारण कर्ता नहीं — १४६

बीज-वृक्ष न्याय जगत् अनादि १४७
विज्ञान के सैकड़ों तत्त्व पृथ्वी आदि चार तत्त्वों के भीतर १४८
तत्त्वों में षट् भेद १५१
तत्त्वों के अनादि षट्भेदों से जगत् की स्थिति भी अनादि १५३
जड़-चेतन दोनों भिन्न और अनादि १५५
अनादि सृष्टि के दो प्रकार १५७
वृक्ष-वनस्पतियाँ निर्जीव हैं १६०
जगत अनादि कैसे ? १६१
अनादि-अनन्त जगत् का प्रलय नहीं १६४
आकाश विचार १६६
कर्म-फल-भोगों का रहस्य १७६
आचार का आधार क्या है ? १८४
मोक्ष-विषय १८५
सारांश १८५

परिशिष्ट : पहला भाग

(जगत् एवं ईश्वर विषयक कुछ महापुरुषों के विचार)

महामहिम डा० श्री सम्पूर्णानन्दजी के विचार १८७
एम्पोडोक्लीज के विचार २०१
श्री पं० उदयवीर जी शास्त्री के विचार २०२
श्री कपिल सांख्य २०४

श्री कणाद-वैशेषिक २०५
श्री जैमिनि-मीमांसा २०५
श्री गौतम (अक्षपाद)-न्याय २०५
श्री पतञ्जलि-योग २०६

दूसरा भाग

अपनी सद्भावना २०८
शास्त्रों की प्रामाणिकता में खींचतान २०८
नास्तिक कौन ? २१०
वेद-विचार २१५
वेद किसके बनाये ? २२३
क्या बहुत पढ़ा ही ज्ञानी हो सकता है ? २२५
स्व-स्वरूप चेतन जीव ही सर्वोपर है २२८
स्व-स्वरूप-स्थिति ही मोक्षावस्था है २३१

सद्गुरवेनमः

जगन्मीमांसा

पूर्वार्ध

जड़-चेतन दो वस्तु अनादि और अनन्त हैं। इसको यदि विवरण पूर्वक कहें, तो कहना होगा कि पृथ्वी, जल, तेज तथा वायु—ये चार जड़ तत्त्व और इनसे सर्वथा एवं सर्वदा पृथक अगणित चेतन जीव—ये पाँच वस्तु अनादि-अनन्त एवं नित्य हैं। पेड़, पत्थर, शरीर, घर, घड़ा, लोहा, ताँबा, जस्ता, सोना, चाँदी, कोयला, अन्न, फल, फूल, बादल, लहर, तरंग, फेन, शर्बत, दुग्ध, बवण्डर, आँधी, बिजली, गैस-चिराग आदि के प्रकाश एवं इस प्रकार के अनेकों कार्य पदार्थ उक्त चार तत्त्वों के गुण-धर्मादि षट् भेदों से एवं अनादि से प्रवाह रूप बनते-मिटते रहते हैं और अनन्त काल तक ऐसे ही बनते-मिटते रहेंगे। इनका कभी आदि-अन्त नहीं।

इसी प्रकार चन्द्र, सूर्य तथा अनेकों तारागण भी कम विशेष चार जड़-तत्त्वों के कारण-समूह अनादि वस्तु हैं।

कोई-कोई तारे बनते-बिगड़ते रहते हैं, जैसे उल्कामुखी आदि। इधर चेतन जीवों का कारणसमूह कहीं नहीं। बल्कि वे सब अविनाशी चेतन-जीव भिन्न-भिन्न अपने-अपने कर्मों के वासना-वश जन्म-मरण चक्र में प्रत्यक्ष घूम रहे हैं और तनधारी चेतन जीव जड़ तत्त्वों को लेकर नाना जड़-पदार्थ अनादिकाल से बनाते-बिगाड़ते रहते हैं तथा कर्म-वश उनका शरीर-धरना-छोड़ना लगा रहता है।

इस प्रकार जड़-चेतनमय यह दिखता हुआ जगत् उत्पत्ति-प्रलय रहित अनादि और अनन्त है। अतएव इस जगत् के कर्ता-कारण अप्रत्यक्ष-अदृश्य खुदा, ईश्वर, ब्रह्म, प्रधान, ईथर, नेचर आदि कथमपि सम्भव नहीं। पृथ्वी आदि चतुर्महाभूतों तथा उनके गुण-स्वभावों को ही प्रकृति-नेचर आदि कुछ भी कह लें। यद्यपि इस जड़-चेतनमय प्रत्यक्ष जगत् की उत्पत्ति-प्रलय के विषय में नाना मतवादियों ने नाना मनगढ़न्त बेढङ्गी कल्पनायें की हैं। परन्तु एक-एक की युक्तियों और असम्भवादि दोषों से तथा सत्य न्याय से वे सब मत खण्डित हो जाते हैं।

इस छोटी-सी पुस्तिका में इन्हीं विषयों पर मीमांसा की गयी है। इस पुस्तक को पूर्वार्ध और उत्तरार्ध में बाँट दिया गया है। पूर्वार्ध में जगत्-उत्पत्ति विषयक नाना कल्पित मतों का पूर्वपक्ष-द्वारा स्थापन कर उनका पुनः

उत्तरपक्ष-द्वारा निराकरण किया गया है और उत्तरार्ध में पारख-न्याय-पूर्वक जगत् की वास्तविक अनादि स्थिति का वर्णन किया गया है। शेष उपयोगी अंश, जो इनमें आने वाले नहीं थे, उन्हें परिशिष्ट में जोड़ दिया गया है।

× × ×

उत्पत्ति-प्रलय-रहित इस अनादि जगत् को नाना मत-वादी अपनी भूल-वश कहते हैं कि यह कभी उत्पन्न हुआ है और कभी इसका प्रलय हो जायगा। जिनमें इस जगत् की उत्पत्ति के कारण-कर्ता कोई ईश्वर मानता है, कोई खुदा, कोई यहोवा तथा कोई ब्रह्म, सगुण, निर्गुण, ब्रह्मा, शिव, विष्णु, सूर्य, आदिशक्ति, प्रधान, ईथर इत्यादि। इन लोगों की कुछ विरोधी कल्पनायें आगे देखिये—
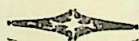
भारतीय मत

श्रौतखंड

स्मृतिखंड

उपनिषद्खंड

पुराणखंड

सामान्यखंड

श्रौतखंड

१. पूर्वपक्ष–"नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परोयत् ।" इत्यादि अर्थात् प्रलय काल में असत् नहीं था। सत्य भी उस समय नहीं था । पृथ्वी और आकाश भी नहीं थे । आकाश में स्थित सप्तलोक भी नहीं थे । तब कौन कहाँ रहता था ? ब्रह्माण्ड कहाँ था ? गंभीर जल भी कहाँ था ? ॥१॥ उस समय अमरत्व और मृतत्व भी नहीं थे। रात्रि और दिवस भी नहीं थे । वायु से शून्य और आत्मा के अवलम्ब से श्वास-प्रश्वास वाले एवं ब्रह्ममात्र ही थे उनके अतिरिक्त सब शून्य थे॥२॥ सृष्टि-रचना से पूर्व अन्धकार ने अन्धकार को आवृत्त किया हुआ था। सब कुछ अज्ञात था। सब ओर जल-ही-जल था। वह सर्वव्याप्त ब्रह्म भी अविद्यमान पदार्थ से ढका था। वही एक तत्त्व तप के प्रभाव से विद्यमान था॥३॥ जब उस ब्रह्म ने सर्वप्रथम सृष्टि-रचना की इच्छा की। उससे सर्वप्रथम बीज का प्राकट्य हुआ। मेधावीजनों ने अपनी बुद्धि के द्वारा विचार करके अप्रकट वस्तु की उत्पत्ति कल्पित की॥४॥ फिर बीज धारणकर्ता पुरुष की उत्पत्ति हुई। फिर महिमाएं

प्रकट हुईं। उन महिमाओं का कार्य दोनों पार्श्वों[1] तक प्रशस्त हुआ। नीचे स्वधा[2] और ऊपर प्रयति का स्थान हुआ॥ ५॥ प्रकृति के तत्त्व को कोई नहीं जानता, तो उनका वर्णन कौन कर सकता है? इस सृष्टि का उत्पत्ति-कारण क्या है? यह विभिन्न सृष्टियाँ किस उपादान कारण से प्रकटीं? देवगण भी इन सृष्टियों के पश्चात् ही उत्पन्न हुए, तब कौन जानता है कि यह सृष्टि कहाँ से उत्पन्न हुई? ॥ ६॥ यह विभिन्न सृष्टियाँ किस प्रकार हुईं? इन्हें किसने रचा? इन सृष्टियों के जो स्वामी दिव्यधाम में निवास करते हैं, वही इनकी रचना के विषय में जानते हैं। यह भी सम्भव है कि उन्हें भी यह सब बातें ज्ञात न हों॥७॥
(ऋग्वेद मंडल १०अ० ११, श्रीराम शर्मा आचार्य की टीका से)

उत्तरपक्ष—प्रलय-काल में जब सत् असत दोनों नहीं थे, तब कहाँ से आ गये? एक बार कहते हैं, गम्भीर जल कहाँ था? फिर नीचे कहते हैं कि चारों ओर जल-ही-जल था। सर्वत्र व्याप्त ब्रह्म अविद्यमान पदार्थ से ढँका था। जो अविद्यमान है, अर्थात है ही नहीं। वह किसी को ढाँक

१—दोनों ओर। २ एक शब्द जिसका उच्चारण कल्पित देवताओं या पितरों की हवि देने के समय किया जाता है। अथवा पितरों को दिया जाने वाला अन्न भी 'स्वधा' कहलाता है। 'स्वधा' का अर्थ माया भी है।

कैसे सकता है ? ब्रह्म ने सृष्टि-रचना की इच्छा क्यों की ? उसे क्या आवश्यकता थी ?

इन मन्त्रों में आगे चलकर स्वयं कह दिया है कि "इस जगत-सृष्टि का कारण क्या या कौन है ? इसे कोई नहीं जानता, यहाँ तक ईश्वर भी सम्भवतः नहीं जानता।"

२. पूर्वपक्ष—"स वै नैव रेमे । तस्मादेकाकी न रमते स द्वितीयमैच्छत्स" इत्यादि अर्थात उसको अकेले में आनन्द नहीं आया, इसलिये संसार में भी अकेले में आनन्द नहीं आता उसने दूसरे को चाहा, वह इतना मोटा हुआ, जितने दो स्त्री-पुरुष मिलकर होते हैं। फिर उसने अपने मोटे शरीर के दो भाग किये। एक भाग पुरुष और दूसरा भाग पत्नी बना, उससे मनुष्य पैदा हुए। पत्नी ने देखा कि इसने मुझको अपने शरीर से ही बनाकर मुझ से रमण किया इस खेद से छिप गयी। छिपकर गौ हुई। पुरुष ने भी वृषभ बनकर उससे व्यवाय[1] किया। उससे गो-जाति उत्पन्न हुई। फिर वही पत्नी घोड़ी हुई, पुरुष घोड़ा बना। पत्नी फिर गदही बनी, पुरुष गदहा बना, फिर दोनों ने आपस में मैथुन किया, उससे एक टापवाले अश्व, गर्दभ उत्पन्न हुए। फिर पत्नी बकरी बनी, पुरुष बकरा बना। फिर पत्नी भेड़ी बनी, पुरुष भेड़ा बना, फिर आपस में

उन्होंने रमण किया, उससे भेड़-बकरी बने। इसी प्रकार दोनों चीटीं तक बनते गये और संसार बनता गया।"

(शत० १४।४।२। वैदिक सत्यार्थ प्रकाश कालूराम शास्त्री पृष्ठ ३२८)

उत्तरपक्ष—वह कौन था जिसको अकेले में आनन्द नहीं आया ? जो स्वतः तृप्त नहीं, जो दूसरे को चाहता है, वह सर्वसमर्थ कहाँ ? एक ही देह में से स्त्री पुरुष पृथक-पृथक हो जाना तथा मनुष्य से क्रमशः गाय-बैल, घोड़ी-घोड़ा, गधी-गधा आदि होना कितनी असम्भव पूर्ण बाते हैं ? विवेकवान् इसकी सार हीनता पर स्वयं विचार करें।
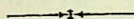
स्मृतिखंड

३. पूर्वपक्ष—"यह संसार (प्रलय काल में) तम में लीन, अज्ञेय, चिन्हरहित, प्रमाणादि तर्कों से हीन, विज्ञेय तथा सर्वज्ञ सोये हुए के समान था।"

"उस परमात्मा ने अनेक प्रकार की प्रजाओं की सृष्टि करने की इच्छा से ध्यान कर सबसे पहले जल की सृष्टि की और उसमें शक्ति रूपी बीज को छोड़ा।"

"अतिशय अन्धकार युक्त और अव्यक्त संसार रूपी व्यक्त वह अण्डा नारायण से उत्पन्न हुआ, उस अण्डे के भीतर ये लोक सात द्वीपों-वाली पृथ्वी थी।"

"वह जो अत्यन्त प्रसिद्ध सबका कारण है, नित्य है, सत् तथा असत स्वरूप है; उससे उत्पन्न पुरुष लोक में ब्रह्मा कहा जाता है।"

"ब्रह्मा ने उस अण्डे में (अपने वर्ष से) एक वर्ष (अर्थात मनुष्य के वर्ष से इकतीस खर्ब दस अर्ब चालीस करोड़ वर्ष) तक निवास कर अपने ध्यान के द्वारा उस अण्डे के दो टुकड़े कर दिये।"

"उस अण्डे के दो टुकड़ों से स्वर्ग तथा पृथ्वी की सृष्टि

की और बीच में आकाश, आठ दिशाओं तथा जल का आश्रय अर्थात् समुद्र की सृष्टि की।" (इत्यादि बहुत विस्तार से कथन है)।

(मनुस्मृति प्रथम अध्याय)

उत्तरपक्ष—संसार पहले नहीं था, इसका कोई प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं। पहले जल की सृष्टि की, और उसमें बीज छोड़ा; तो जब पहले पृथ्वी नहीं थी, तब जल को कहाँ पर ठहराया? ईश्वर सत्-असत् दोनों है, यह कैसे? क्योंकि "नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः"(गीता) अर्थात असत्य का भाव नहीं होता और सत्य का अभाव नहीं होता। इकतीस खर्ब दश अर्ब और चालीस करोड़ वर्ष तक ब्रह्मा उसी अण्डे में रह गये—यह कितनी मनगढ़न्त कल्पना है? उस अण्डा के दो टुकड़े करके उसी से सब सृष्टि बनायी और पीछे से जल के आश्रय स्वरूप समुद्र को बनाया, जब समुद्र पहले नहीं था, तब अण्डा किस जल में था? इस अनादि-अनन्त जगत के पीछे यह सब कल्पना की व्यर्थ घुड़दौड़ है।

उपनिषद् खंड

४. पूर्वपक्ष—'स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति।' अर्थात 'उस परमेश्वर ने विचार किया कि मैं निश्चय ही लोकों की रचना करूँ।' पुनः 'स इमाँल्लोकानसृजत।' अर्थात् 'उस परमेश्वर ने इन सब लोकों (तीन लोक, सात लोक या चौदहभुवनों) की रचना की।'

(ऐतरेय उपनिषद्)

उत्तरपक्ष—पहले यह बतलाइये ईश्वर साकार है कि निराकार ? यदि साकार है, तो एकदेशी होगा, फिर एकदेशी विराट् जगत् को नहीं बना सकता और यदि वह निराकार है, तो निराकार शून्य को कहते हैं, फिर शून्य जगत् को क्या बनायेगा ? क्योंकि साकार-निराकार का सम्बन्ध नहीं होता, यथा—"सम्बन्धानुपपत्तेश्च।"

(वेदान्त अ० २ पाद २ सूत्र ३८)

अर्थात्—'निराकार ईश्वर और साकार परमाणु का सम्बन्ध न सिद्ध होने से ईश्वर-प्रकृति के योग से सृष्टि मानना व्यर्थ है।' पुनः पूर्वपक्षी ने कहा कि 'उस परमेश्वर ने विचार किया कि जगत् रचूँ।' तो विचार तो देहोपाधि से अन्तःकरण में होता है। इसलिये ईश्वर एक देहधारी

मनुष्यवत् ठहरता है। पुनः ईश्वर ने क्या लेकर जगत् बनाया ? क्योंकि उनके मतानुसार पृथ्वी, जल, तेज एवं वायु आदि तत्त्व प्रथम तो थे नहीं।

५. पूर्वपक्ष—जब लोकों की रचना हो गयी तब लोकपालों की भी रचना करूँ ऐसा विचार कर ईश्वर ने जल से ही (हिरण्यगर्भ) पुरुष को निकाल कर उसे मूर्तिमान बनाया। पुनः उसी पुरुष का लक्ष्य करके ईश्वर ने संकल्प रूप तप किया। अतः उस संकल्प रूप तप से तपे हुए (हिरण्यगर्भ) पुरुष से प्रथम अण्डे की भाँति फूटकर मुख-छिद्र प्रकट हुआ। मुख से वाक्-इन्द्रिय और वाक्-इन्द्रिय से अग्नि देवता प्रकट हुआ। पुनः (२) नासिका के दोनों छिद्र प्रकट हुए, उस छिद्र से प्राण और प्राण से वायु-देवता उत्पन्न हुआ। पुनः (३) आँख के दोनों छिद्र, उस नेत्र से सूर्य प्रकट हुआ। फिर (४) कान के दोनों छिद्र और कान से दिशायें प्रकटीं। पुनः (५) त्वचा उत्पन्न हुई और त्वचा से रोम तथा रोम से वनस्पति-ओषधियाँ उत्पन्न हुईं। फिर (६) हृदय उत्पन्न हुआ और हृदय से मन तथा मन से चन्द्रमा उत्पन्न हुआ। पुनः (७) नाभि प्रकट हुई, नाभि से अपान वायु और उससे मृत्यु देवता उत्पन्न हुआ। फिर (८) लिङ्ग (शिश्न) उत्पन्न हुआ और उससे वीर्य तथा वीर्य से जल उत्पन्न हुआ।

(ऐत० उ०)

उत्तरपक्ष—केवल जल से हिरण्यगर्भ पुरुषका निर्माण हुआ कहना प्रत्यक्ष सृष्टि-क्रम के विरुद्ध, युक्तिहीन एवं कल्पित है। अन्य तत्त्व या जीव-बिना केवल जल में ही अण्डे का निर्माण और अण्डे से फूटकर मुख आदि प्रकट होना निर्णय युक्त बात नहीं ठहरती। मुख से अग्नि, प्राण से वायु आँख से सूर्य, कान से दिशायें, रोम से वनस्पति-औषधि, मन से चन्द्रमा, अपानवायु से मृत्यु, वीर्य से जल की उत्पत्ति मानना और कहना, अत्यन्त विरोधी बाते हैं। ये ऐसे ही विरोधी हैं, जैसे कोई कहे कि खरगोश के शृंग हैं और मच्छड़ से हाथी ऊँट उत्पन्न हुए हैं। जब पहले यह कहा कि ईश्वर ने जल से हिरण्यगर्भ को निकाल कर उसे मूर्तिमान बनाया तब पीछे यह कहना कितना विरोधी है कि वीर्य से जल की उत्पत्ति हुई।

६. पूर्वपक्ष—फिर परमात्मा ने अग्नि आदि देवताओं को भूख-प्यास से व्याप्त कर दिया। तब देवताओं ने परमात्मा से विनय किया कि हमें रहने का अच्छा स्थान दो, वहाँ हम सब अन्न-जल भक्षण करें। तब परमात्मा ने एक गौ का शरीर बनाकर उन लोगों को रहने के लिये कहा। तब उन अग्नि आदि देवताओं ने कहा कि यह हम लोगों के लिये पर्याप्त (पूरा) नहीं है। तब परमात्मा ने घोड़ा लाया। तो भी देवताओं ने अस्वीकार किया। तब

ईश्वर ने मनुष्य-शरीर रचकर दिखाया। तब अग्नि देवता कहने लगे—हाँ! यह अच्छा बन गया है। तब ईश्वर ने कहा—अच्छा! इसमें तुम सब प्रविष्ट हो जाओ। तब (१) अग्नि देवता वाक् इन्द्रिय बनकर मुख में प्रविष्ट हो गया। (२) वायु देवता प्राण बनकर नासिका में प्रविष्ट हो गया। (३) सूर्य नेत्र बनकर आँख के गोलक में प्रविष्ट हो गया। (४) दिशायें श्रोत्र बनकर कान में प्रविष्ट हो गयीं। (५) औषध-वनस्पति रोयें बनकर त्वचा में प्रविष्ट हो गयीं। (६) चन्द्रमा मन बनकर हृदय में प्रविष्ट हो गया। (७) मृत्यु अपान बनकर नाभि में प्रविष्ट हो गयीं। (८) जल वीर्य बनकर शिश्न में प्रविष्ट हो गया।

(ऐत० उ०)

उत्तरपक्ष—गौ, घोड़ा आदि जब प्रथम नहीं थे, तो कहाँ से आये। गौ, घोड़ा इत्यादि देवताओं को दिखाना और उन्हें स्वीकार न होना, तब मनुष्य-शरीर दिखाना—इन सब बातों से ईश्वर के अन्तर्यामी एवं सर्वज्ञ होने का भाव कहाँ ठहरता है?

यदि ईश्वर सर्वज्ञ है, तो प्रथम ही मनुष्य-शरीर बनाकर अग्नि आदि देवताओं को दिखाता। सूर्य-चन्द्रादि जब नेत्र, मन आदि बनकर पुरुष-शरीर में प्रविष्ट हो गये, तो बाहर आकाश में सूर्य-चन्द्र कहाँ से आ गये? यदि वे सूर्य-चन्द्र ये आकाश वाले नहीं हैं, कोई प्राणी थे, तो क्या

प्राणी किसी के नेत्र आदि में समा सकते हैं ? सूर्य-चन्द्रमा इत्यादि नेत्र-मन आदि बनकर आँख-हृदय आदि में प्रविष्ट हुए—ऐसा कहना कितना बाल-वचन-सा प्रतीत होता है ?

७. पूर्वपक्ष—फिर उस परमात्मा से भूख और प्यास बोली कि हमारे लिये भी निवास-स्थान दीजिये। तब परमात्मा ने कहा--तुम सब इन्द्रियों में जाकर निवास करो। फिर ईश्वर ने सोचा कि मैंने लोक-लोकपाल इत्यादि रचा। अब इनके लिये अन्न रचना चाहिये। अतः उसने जल को तपाया फिर उस तपे हुए जल में से मूर्ति निकली, निश्चय ही वह मूर्ति अन्न थी। फिर उस मूर्तिमान् अन्न ने सोचा 'मनुष्य हमें खा जायगा।' अतः वह मुख घुमाकर भगा, तो मनुष्य उसे वाणीद्वारा पकड़ना चाहा, परन्तु न पकड़ सका। क्योंकि यदि वाणीद्वारा अन्न पकड़ा जाता, तो वाणी से अन्न का वर्णन करके आज भी लोगों की तृप्ति हो जाती। फिर उस पुरुष ने क्रमशः घ्राण, नेत्र, कान, त्वचा, मन और शिश्न (उपस्थ) से अन्न को पकड़ना चाहा। परन्तु न पकड़ सका। क्योंकि यदि इन इन्द्रियों से अन्न पकड़ा जाता, तो आज भी अन्न को सूँघ, सुन, छू, चिन्तन और त्याग करके तृप्ति हो जाती। फिर पुरुष ने अपानवायु से अन्न को पकड़ना चाहा और अबकी बार पकड़ लिया। फिर ईश्वर ने सोचा कि यदि मनुष्य मेरे बिना इन्द्रियों से यथावत सब कार्य कर

लिया, तो मैं कौन ? (अर्थात् मेरा क्या मूल्य रह जायगा ?) अतः उसने मनुष्य के ब्रह्मरन्ध्र में फाड़कर उसमें प्रविष्ट हो गया।

(ऐतरेय उपनिषद् प्रथम अध्याय का सारांश)

उत्तरपक्ष—जल को तपाने पर जल में से मूर्तिमान् अन्न का प्रादुर्भाव होना सर्वथा कल्पित सिद्ध होता है। अन्न मूर्तिमान था, वह मनुष्य-द्वारा अपने को खा जाने के भय से विमुख होकर भगा--यह कहना कितना बाल-वचन प्रतीत होता है ? भला ! क्या अन्न भी चेतन प्राणी है कि भयभीत होकर भग सके या सोच-विचार करसके ? अन्न तो जड़ है, उसमें सोच-विचार और भय कहाँ ?

८. **पूर्वपक्ष**—'आत्मन आकाशः सम्भूतः' इत्यादि मन्त्रों-द्वारा तैत्तिरीय उपनिषद् में वर्णन है कि प्रथम परमात्मा से आकाश उत्पन्न हुआ, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथ्वी, पृथ्वी से औषध औषध से अन्न और अन्न ही से मनुष्य उत्पन्न हुआ इत्यादि।

(तैत्तिरीय उपनिषद् बल्ली २ अनुवाक १)

उत्तरपक्ष—परमात्मा को जब चेतन मानते हैं, तब चेतन से जड़ तत्त्वों की उत्पत्ति मानना सूर्य से अन्धकार की उत्पत्ति मानना है। इसके अतिरिक्त कहते हैं, परमात्मा से पहले आकाश उत्पन्न हुआ। विचार कीजिये !

आकाश तो शून्य को कहते हैं। फिर उसकी क्या उत्पत्ति होगी ? जब आकाश को उत्पत्ति नहीं हुई थी, तब क्या सर्वत्र ठोस-ही-ठोस भरा था। इसके अतिरिक्त आकाश तो स्वयं शून्य है, फिर उससे पदार्थ रूप वायु की उत्पत्ति क्या होगी ? और पुनः वायु से अग्नि और अग्नि से जल, थल इत्यादि क्रमशः जो उत्पत्ति मानते हैं, यह सर्वथा विषम है।

जब वायु का लक्षण अग्नि में नहीं है, तब वायु से अग्नि की उत्पत्ति मानना बन्ध्या पुत्र की कल्पना करना है। इसी प्रकार पृथ्वी, जल, अग्नि तथा वायु—ये चारों तत्त्व स्वयं अन्य तीनों से विलक्षण हैं। इसलिये किसी से कोई तत्त्व नहीं उत्पन्न हुए हैं। क्योंकि कारण-कार्यों के गुण-धर्मों में समानता रहती है। यदि एक तत्त्व कारण और एक कार्य होते, तो सबके गुण-धर्म एक होते। परन्तु प्रत्यक्ष ही पृथ्वी का धर्म कठोर, तो जल का शीतल और अग्नि का उष्ण, तो वायु का धर्म कोमल है। इसी प्रकार चारों तत्त्वों के विषय-आकारादि भी भिन्न-भिन्न हैं।

इसके अतिरिक्त यदि तत्त्वों की उत्पत्ति मान ली जाय, तो पृथ्वी आदि को तत्त्व नहीं कहना चाहिये। क्योंकि तत्त्व नित्य वस्तु को कहा जाता है; जिसकी न कभी उत्पत्ति हो और न कभी नाश हो। पुनः पृथ्वी से औषध, औषध से अन्न और अन्न से मनुष्य की उत्पत्ति मानना

युक्ति-प्रमाण और प्रत्यक्ष सृष्टिक्रम के सर्वथा विरुद्ध है। हाँ! पृथ्वी से औषध-अन्नादि होते हैं, परन्तु अन्नादि से एकाएक मनुष्य नहीं उत्पन्न होते। मनुष्य तो माता-पिता से होते हैं, यह अनादि-नियम है, जो प्रत्यक्ष सृष्टिक्रम में न हो, वह पहले हुआ था--ऐसा किसके बल पर माना जा सकेगा ? अर्थात् नहीं माना जा सकता।

६. **पूर्वपक्ष**--'तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत' इत्यादि मन्त्रों-द्वारा छान्दोग्य उपनिषद् में वर्णन है कि परमेश्वर ने विचार किया कि मैं बहुत हो जाऊँ। फिर उसने तेज को रचा। पुनः तेज से जल और जल से अन्नादि रचा।

(छान्दोग्य उपनिषद् ६।२।३)

'स प्राणमसृजत' इत्यादि मन्त्रों-द्वारा प्रश्न उपनिषद् में वर्णन है कि महासर्ग (सृष्टि उत्पत्तिकाल) में ईश्वर ने सबसे प्रथम प्राण को उत्पन्न किया, प्राण से श्रद्धा, श्रद्धा से आकाश, फिर वायु, तेज, जल, पृथ्वी, मन, इन्द्रिय, अन्न, वीर्य, तप, मन्त्र, कर्म, लोक तथा नाम—ये सब क्रमशः एक-से-एक हुए। (प्रश्न उपनिषद् प्र० ६ मं० ४)

उत्तरपक्ष--उपनिषद् प्रतिपादित जगत्कर्ता विवेक से स्वयं कल्पित है। पुनः उस कल्पित शून्य कर्ता से साकार विराट जगत् की उत्पत्ति सर्वथा विषम प्रतीत होती है।

ऊपर के युक्ति-प्रमाणों-द्वारा एक तत्त्व से अन्य तत्त्व की उत्पत्ति मानना अयुक्त सिद्ध हुआ है। छान्दोग्य उपनिषद् के मत से ईश्वर ने विचारा कि मैं बहुत हो जाऊँ। अतः उसने तेज (अग्नि) रचा। यहाँ विवेक करना चाहिये कि ईश्वर क्या पदार्थ लेकर तेज को रचा ? तेज अर्थात् 'अग्नि से जल को रचा' कहते हैं। परन्तु यह कितना अयुक्त है! भला आग से भी जल की उत्पत्ति हो सकती है ?

कहते हैं कि जब मनुष्य शोक करता है, तब पसीना आ जाता है। अतः अग्नि से ही जल उत्पन्न होता है। किन्तु यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि गर्मी होने से शरीर के भीतर का स्थित जल पसीना रूप में बाहर केवल प्रकट हो जाता है, न कि अग्नि का रूपान्तर जल बनता है।

फिर केवल 'जल से अन्न को रचा' कहते हैं। यह सब कल्पित गाथा है। प्रश्न उपनिषद् का प्रमाण देकर जो पूर्वपक्षी ने ईश्वर से प्रथम प्राण की उत्पत्ति माना, फिर प्राण से श्रद्धा आदि तो इसमें विचार करना चाहिये कि प्राण तो शरीरधारी में उत्पन्न होता है। यों ही प्राण क्या उत्पन्न होगा ? और श्रद्धा तो भावना मात्र है, फिर श्रद्धा कौन-सा स्थूल-सूक्ष्म पदार्थ है, जो श्रद्धा से आकाश, वायु, तेज, जल, थल आदि उत्पन्न हुए ? पुनः पृथ्वी से मन की उत्पत्ति और मन से इन्द्रियाँ तथा इन्द्रियों से अन्न, अन्न से वीर्य, वीर्य से तप, तप से मन्त्र, मन्त्र से कर्म, कर्म से

लोक और लोक से नाम इत्यादि का उत्पत्ति-कथन भी अयुक्त प्रतीत होता है। जो घटना प्रत्यक्ष सृष्टि में नहीं घटित है, उसे यह मानना कि प्रथम घटित हुई, यह बात बिलकुल निराधार है। जिसकी उत्पत्ति जिससे आज देखी जाती है, उसकी उत्पत्ति उसके अरबों वर्षों के प्रथम भी थी। जिस पृथ्वी, जल, तेज, वायु की तथा सूर्य-चन्द्रादि की उत्पत्ति-प्रलय आज नहीं दिखती, उसकी उत्पत्ति-प्रलय कभी न हुई न होगी।

१०. **पूर्वपक्ष**—इस स्थावर-जंगम का उपादान कारण केवल ब्रह्म है[1]।

उत्तरपक्ष—ब्रह्म को जब निराकार कहते हैं तब वह तो स्वतः शून्य है, फिर उससे क्या उत्पन्न होगा? इसके अतिरिक्त एक पदार्थ में परस्पर विरुद्ध धर्म-गुण नहीं रह सकते। श्री वेदव्यास जी कहते हैं—

नैकस्मिन्नसम्भवात्॥ (वेदान्त २।२।३३)

अर्थात्—'एक सत्य पदार्थ में परस्पर विरुद्ध अनेक धर्म नहीं रह सकते। क्योंकि यह असम्भव है।'

१—आत्मन आकाशः सम्भूतः। आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यःपृथिवी। इत्यादि (तै० उ० २।१।१)

अर्थात्—आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथ्वी हुई।

अतएव एक ब्रह्म से विरोधी गुण-धर्म वाले आकाश, वायु, अग्नि, जल एवं थल कैसे उत्पन्न हो गये? यह मान्यता सर्वथा असत्य है कि एक ब्रह्म ही से सब कुछ हो गया।

११. पूर्वपक्ष—जल, थल, अग्नि, वायु आदि नाना विरोधी धर्म युक्त जो जगत् दिखता है। यह वास्तव में स्वप्नवत् प्रतीत मात्र है, सत्य नहीं, एक ब्रह्म ही सत्य है।

उत्तरपक्ष—जगत् स्वप्नवत् असत्य नहीं, श्रीवेदव्यास जी कहते हैं—नाभाव उपलब्धेः ॥ (वेदान्त २।२।२८)

अर्थात्—'जानने में आनेवाले पदार्थों का अभाव नहीं है, क्योंकि उनकी प्राप्ति होती है।'

यदि यह मान्यता हो कि जैसे स्वप्न में उपलब्ध पदार्थ सत्य नहीं होते, वैसे जाग्रत पदार्थ उपलब्ध होने पर भी मिथ्या हैं, तो इसके उत्तर में वेदव्यास जी कहते हैं—

वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत् ॥ (वेदान्त २।२।२९)

अर्थात्—'जाग्रत अवस्था में प्राप्त होने वाले पदार्थों से स्वप्न अवस्था में प्रतीत होने वाले पदार्थों के धर्म में अन्तर है।'

तात्पर्य यह है कि जाग्रत के सत्य पदार्थों को देख, सुन, भोग कर वासना बनी रहने के कारण ही उसकी स्वप्न में प्रतीति होती है। इसलिये स्वप्न के प्रतीत-पदार्थ मिथ्या

हैं। परन्तु जाग्रत के पदार्थ सत्य हैं। स्वप्न के पदार्थ तो एक काल में एक ही व्यक्ति को प्रतीत होते हैं और जाग्रत के पदार्थ एक काल में अनेक मनुष्यों को दिखते और प्राप्त होते हैं तथा कालान्तर में भी मिलते हैं। अतः जाग्रत के पदार्थ स्वप्नवत मिथ्या नहीं हैं, किन्तु सत्य हैं। हाँ! परिणामी कह सकते हैं। अतएव कल्पित निराकार-शून्य ब्रह्म से जगत् नहीं हो सकता।

१२. पूर्वपक्ष—जगत् का अभिन्न निमित्त उपादान कारण केवल ब्रह्म है। सत्ता केवल एक ब्रह्म ही की है, अन्य सब काल्पनिक हैं। जगत् ब्रह्म का विवर्त (मिथ्या-प्रतीति) मात्र है।

उत्तरपक्ष-ब्रह्म का स्वरूप क्या है? यदि कहिये निराकार व्यापक तो निराकार से साकार जगत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती, जैसे आकाश से फूल नहीं उत्पन्न हो सकते। यदि कहिये पृथ्वी आदि के निराकार परमाणुओं से साकार पदार्थ बन जाते हैं, वैसे निराकार ब्रह्म से जगत् हो सकता है, तो पृथ्वी आदि समस्त तत्त्वों के परमाणु तथा अनन्त अविनाशी चेतन जीव भी निराकार नहीं हैं। चाहे स्थूल हों या सूक्ष्म, जो द्रव्य है, वह निराकार नहीं कहा जा सकता। तत्त्व जड़ाकार हैं, चेतन जीव ज्ञानाकार हैं। अतएव निराकर, शून्य से जगत् नहीं उत्पन्न हो सकता।

अखण्ड ब्रह्म में परिवर्तन नहीं हो सकता, जब ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं, तब यह परिवर्तनशील जगत् कहाँ से आया ? ब्रह्म को चेतन स्वरूप मानते हैं, फिर चेतन ब्रह्म से जड़ जगत् कैसे पैदा हो गया ? यह तो ऐसा है, जैसे कोई कहेकि सूर्य से अन्धकार पैदा हो गया। कहते हैं "जगत् ब्रह्म का विवर्तमात्र है, जैसे रज्जु में सर्प की भ्रान्ति होती है, सर्प रज्जु का विवर्त (विपरीत प्रतीति मात्र) है।

विवेक करना चाहिये कि मनुष्य पहले जब सर्प देखा रहता है, तब अर्ध अन्धकार में सर्पाकार रज्जु को देखकर सर्प की भ्रान्ति होती है। यदि मनुष्य पहले कभी सर्प न देखा रहे, तो रज्जु में सर्प की भ्रान्ति ही नहीं होगी। तो क्या जीव कभी अन्यत्र वास्तविक जगत् को देखा था, जिससे जगताकार ब्रह्म को देखकर ब्रह्म में जगत् की भ्रान्ति हो गयी ? फिर निराकार ब्रह्म में साकार जगत् की भ्रान्ति कैसे हो सकती है ?

जगत् भोग्य है और आत्मा भोक्ता, परन्तु यहाँ आत्मा ही जगत् है, तब भोक्ता-भोग्य का सम्बन्ध व्यर्थ है। यदि कहिये मिट्टी से घड़ा बनता है, परन्तु व्यवहार में मिट्टी से घड़ा अवश्य भिन्न है। इसी प्रकार ब्रह्म से जगत् है, परन्तु व्यवहार में ब्रह्म से जगत् अवश्य भिन्न

है। तब तो मिट्टी-घड़ावत् जगत्-ब्रह्म का कारण-कार्य भाव मानने से परिणामवाद सिद्ध हो गया और विवर्तवाद धराशायी हो गया। इसके अतिरिक्त मिट्टी और घड़ा में कोई भोग्य एवं भोक्ता नहीं होता। इसी प्रकार जगत्-ब्रह्म में कोई भोग्य-भोक्ता का सम्बन्ध उचित नहीं जँचता।

जब सम्पूर्ण जगत है ही नहीं, तब ब्रह्म या आत्मा सर्वगत (सर्वव्यापक) हो ही नहीं सकता। माया तथा अविद्यादि भावरूप हैं, तब ब्रह्म को अद्वैत कहना व्यर्थ है। यदि अविद्या कोई वस्तु नहीं या ब्रह्म से पृथक उसका अधिष्ठान नहीं, तो फिर अज्ञान को मिटाने का प्रयास व्यर्थ है।

ब्रह्म में जगत् का विवर्त (भ्रांति) किसको हुआ? जब ब्रह्म के अतिरिक्त कोई है ही नहीं। अद्वैत ब्रह्म में माया, ईश्वर, जगत, जीव, अन्तःकरण—यह सब कहाँ से टपक पड़े? वास्तव में न जड़ से चेतन उत्पन्न होता है और न चेतन से जड़। वैशेषिक सूत्रकार कहते हैं—

"कारणगुणपूर्वकः कार्य्यगुणोदृष्टः।"

(वैशे० अ० २ आ० १ सू० २४)

अर्थात्—"उपादान कारण के सदृश ही कार्य में गुण देखे जाते हैं।" यहाँ प्रश्न यह होता है कि कारण ब्रह्म तो सच्चिदानन्द कहते हैं फिर कार्य जगत् असत, जड़ तथा दुःखरूप क्यों?

व्यापक अद्वैत ब्रह्म किसी प्रकार भी नहीं ठहरता। श्री सुन्दरदास जी कहते हैं—

सवैया—

"व्यापक ब्रह्म रह्यो भरपूर,
तो दूसर कौन बतावन हारो।
जो कहि जीव करो परमान,
तो जीव कहा कछु ब्रह्म से न्यारो॥
जो कहे जीव भयो जगदीशते,
तो रवि माहि कहाँ को अँधारो।
सुन्दर मौन गही यह जानिके,
कौनिउ भाँति न ह्वै निरधारो॥"

अर्थः—यदि अद्वैत व्यापक ब्रह्म ही सर्वत्र भरपूर है, तो दूसरा बतलाने वाला कौन है ? यदि कहिये ब्रह्म ही ने ब्रह्म कहा, तो किससे कहा तथा क्यों कहा ? जब दूसरा है नहीं। जब पूर्ण काम है, तब कहने की आवश्यकता क्या ? "ब्रह्म को ब्रह्म कहने की क्या गर्ज है ? जानना ब्रह्म यह किसे फर्ज है।" यदि कहिये जीव ने ब्रह्म कहा, तो जीव क्या ब्रह्म से भिन्न है ? यदि भिन्न होगा तो अद्वैत कट जायगा, यदि कहिये जीव ब्रह्म से उत्पन्न हुआ है, तो सूर्य रूप सर्वज्ञ ब्रह्म से अन्धकार रूप अल्पज्ञ जीव कहाँ से आ गया ? सुन्दरदासजी कहते हैं इस अद्वैत व्यापकवाद का किसी

प्रकार भी निर्णय नहीं हो सकता—ऐसा जानकर मैं चुप हो गया।

अद्वैतवाद केवल जबर्दस्ती सिद्ध किया जाता है। श्री सुन्दरदास जी का एक कवित्त यहाँ द्रष्टव्य है—

शिष्य पूछै गुरुदेव ! गुरु कहै पूछै शिष्य,
मेरे एक शंका अहै, क्यों न पूछै अबहीं।
तुम कहौ एक ब्रह्म ? अबहूँ मैं कहूँ एक,
एक तो अनेक कैसे ? यह भ्रम सबहीं॥
यह भ्रम काको भयो? भ्रम ही को भ्रम भयो,
भ्रम ही को भ्रम कैसे ? तू न जाने कबहीं।
कैसे करि जानों प्रभू ? गुरु कहै निश्चय धरु,
निश्चय करि जान्यों अब, एक ब्रह्म तबहीं।

शिष्य—हे गुरुदेव !

गुरुदेव—क्या है वत्स !

शिष्य—मुझे एक शंका है।

गुरुदेव—फिर अभी क्यों नहीं पूछता ?

शिष्य—आप कहते हैं, ब्रह्म अद्वैत है।

गुरुदेव—अभी भी मैं अद्वैत कह रहा हूँ।

शिष्य—जब एक है तो अनेक का भ्रम क्यों हो रहा है ?

गुरुदेव—यह भ्रम तो सबको अवश्य है।

शिष्य—यह भ्रम किसको है ?

गुरुदेव—भ्रम ही को भ्रम है।

शिष्य—भ्रम ही को कैसे भ्रम है ?

गुरुदेव—तू कभी जानने का प्रयत्न ही नहीं किया कि भ्रम ही को भ्रम कैसे है ?

शिष्य—प्रभो ! कैसे जानूँ ?

गुरुदेव—हृदय में निश्चय करलो कि भ्रम ही को भ्रम हुआ है।

शिष्य—गुरो ! निश्चय करके जाना कि भ्रम ही को भ्रम हुआ है।

गुरुदेव—तो एक ब्रह्म सिद्ध हो गया।

ब्रह्मवादी, शिष्य से केवल जबर्दस्ती अद्वैत ब्रह्म सिद्ध कराते हैं। "भ्रम ही को भ्रम हुआ है—ऐसा निश्चय करके मान लो।" इनके सिद्धान्त में मृगतृष्णा में जल की भ्रान्ति कल्पित जल को ही हो गयी। कल्पित चोर को ही ठूठ में चोर का भ्रम हो गया। कल्पित सर्प ही रस्सी को सर्प मान करके भाग खड़ा हुआ !

अयोध्यावासी श्री अंजनीनन्दन शरण जी महाराज रचित मानसपीयूष में आता है—

"ज्ञानस्वरूप नित्य ब्रह्म जब सत्य है, तो अज्ञान किसे ? दूसरी बात यह है कि अज्ञान अन्धकार धर्मा है, उसका स्वभाव अभेद दिखलाना है, भेद दिखलाना नहीं। जो

अनपढ़ है उसके लिये सब अक्षर एक-से; जो स्वरों का ज्ञाता नहीं उसके लिये सब राग समान। अक्षरों और स्वरों के भेद का ज्ञान उसके जानकार को ही होता है। रात्रि का अन्धकार सारे रूप-भेद को एकाकार कर देता है, भेद का ज्ञान तो प्रकाश करता है। इसलिये जगत् के इन नाना रूपों, असंख्य भेदों को अज्ञान का भ्रम कहना ठीक नहीं।"

(श्री चक्र जी, मानस पीयूष खण्ड ५ पृष्ठ ३२१)

सांख्यदर्शन अध्याय ५ सूत्र ६१ से ६४ तक में आता है—"सूत्र—नाद्वैतमात्मनो लिंगात् तद्भेदप्रतीतेः ॥ ६१ ॥

सूत्रार्थ—लिंगात् = (आत्मा के) रूप से; तद्भेदप्रतीतेः = उनमें भिन्नता का ज्ञान होने पर; आत्मनः = आत्मा का; अद्वैतम् = अद्वितीय अर्थात् एक होना; न = सिद्ध नहीं होता।

व्याख्या—यह नहीं माना जा सकता कि आत्मा एक ही है, क्योंकि संसार में आत्मा अनेक हैं—यह बात प्रत्यक्ष देखी जाती है। कोई जन्म लेता, कोई मरता, कोई बीमार पड़ता, कोई स्वस्थ रहता, कोई सुख भोगता, कोई दुःख भोगता है। यदि सब में एक ही आत्मा होता तो सब एक साथ जन्म लेते, एक साथ मरते, और एक साथ ही दुःख-सुख का भोग करते। इस प्रकार आत्मा का एक होना सिद्ध नहीं होता ॥ ६१ ॥

सूत्र—नानात्मनापि प्रत्यक्षबाधात् ॥ ६२ ॥

सूत्रार्थ—अनात्मना = जो आत्मा नहीं है (अचेतन शरीर) उसके साथ; अपि = भी; प्रत्यक्षबाधात् = बाधा देखी जाने से; आत्मा का एक होना सिद्ध नहीं है।

व्याख्या—यह प्रत्यक्ष देखा जाता है कि आत्मा का सम्बन्ध जब अचेतन शरीर से होता है, तभी वह शरीर क्रियाशील होता है, आत्मा के उसमें से निकलते ही, निश्चेष्ट हो जाता अर्थात् मर जाता है। इस प्रकार जिस शरीर में से आत्मा निकल जाता है, वही मरता है, सभी नहीं मरते, इससे भी आत्मा अनेक हैं—ऐसा सिद्ध होता है ॥ ६२ ॥

सूत्र—नोभाभ्यां तेनैव ॥ ६३ ॥

सूत्रार्थ—तेनैव = उक्त कारण से; उभाभ्याम् = दोनों के पृथक् होने से; न = अद्वैत होना नहीं बनता।

व्याख्या—चेतन आत्मा और अचेतन शरीर दोनों मिलकर एक हैं, यह बात भी नहीं मानी जा सकती। क्योंकि प्रत्यक्ष रूप से इनका अलग-अलग होना संसार में देखा जाता है—आत्मा के निकलने पर शरीर पड़ा रह जाता है, तो वे दोनों एक कैसे हो सकते हैं ॥ ६३ ॥

सूत्र—अन्यपरत्वमविवेकानां तत्र ॥ ६४ ॥

सूत्रार्थ—तत्र = उनमें; अन्यपरत्वम् = द्वैत से भिन्न

अर्थ निकालना; अविवेकानाम् = अविवेकियों का कार्य है।

व्याख्या—उपरोक्त प्रमाणों से यह सिद्ध हो चुका है कि आत्मा और शरीर अलग-अलग हैं। अथवा आत्मा एक नहीं, अनेक हैं। फिर भी, यदि कोई इसका मतलब अद्वैत अर्थात् आत्मा का एक होना ही माने तो वह अवश्य ही अविवेकी पुरुष होगा, ज्ञानी नहीं हो सकता ॥६४॥"

(सांख्यदर्शन, श्रीरामशर्मा आचार्य की टीका से)

"सांख्य के पुरुष-बहुत्व के सिद्धान्त से इसके मनोवैज्ञानिक एवं व्यावहारिक दृष्टिकोण की पुष्टि होती है।"

(विवेक ज्योति वर्ष ४ अङ्क १, प्राध्यापक ब्रजविहारी निगम, दर्शन विभाग, इन्दौर ।)

सार यह हुआ कि न चेतन की अद्वैतता हो सकती है और न चेतन का विकार या विवर्त जगत् हो सकता है। जड़-जगत् पृथक् वस्तु है और नाना चेतन पृथक् वस्तु हैं।

पुराणखण्ड

१३. पूर्वपक्ष—जगत् रचने की इच्छा करके पर-ब्रह्म परमात्मा मूर्तिमान शिव हो गये। उस परमात्मा शिव से अष्टभुजा अम्बिका उत्पन्न हुईं; जो जगत् का कारण हैं। उनके मुख की कान्ति हजार चन्द्रमाओं के समान थी। पुनः शिव ने काशी नगर उत्पन्न किया। शिव-शिवा उसमें विहार करने लगे। फिर शिव ने अपने वाम भाग के दशवें अंग पर अमृत मल दिया, बस एक सुन्दर पुरुष उत्पन्न हो गया, उसने हाथ जोड़कर पूछा—स्वामिन् ! मेरा क्या नाम है ? शिव ने कहा वत्स ! तेरा नाम विष्णु है, तू महान् है। विष्णु ने तपस्या किया और अधिक दिन तपस्या करने से उनके शरीर से जल की धारा निकली, जिससे सारा अकाश जलपूर्ण हो गया। फिर सब तत्त्व-प्रकृति की उत्पति हुई और सबको लेकर विष्णु उसी जल में सो गये।

सोये हुए विष्णु की नाभि से शिव की महिमा से कमल-नाल उत्पन्न हुआ, उस कमल-नाल की लम्बाई-चौड़ाई अनन्तों योजन थी, वह करोड़ों सूर्यों के समान प्रकाशमान था। पुनः शिव ने ब्रह्मा को अपने अङ्गों से

बनाकर उस कमल-नाल में डाल दिया। परन्तु ब्रह्मा को पता न चला कि मुझे कौन जन्म दिया है।

अपने जन्मदाता का पता लगाने के लिये ब्रह्माजी कमल-नाल-द्वारा नीचे उतरे और सौ वर्ष तक उतरते ही रह गये, परन्तु पता न पाये। तब इसी प्रकार कमल-नाल में ऊपर गये, परन्तु पता न मिला। तब आकाशवाणी हुई कि तप (तपस्या) करो। बारह वर्ष तपस्या करने पर विष्णु जी आये, और दोनों में झगड़ा-विवाद हो गया। इतने में एक लिङ्ग उत्पन्न हुआ। जिसकी थाह बहुत दिनों पर भी वे दोनों नहीं पाये। पुनः दोनों निर्मान होकर सौ वर्षों तक लिङ्ग को नमस्कार किये। फिर शिव ने प्रसन्न होकर दोनों को सृष्टि रचने की आज्ञा दी।

(शिव पुराण)

उत्तरपक्ष—शिव से अष्टभुजा अम्बिका कैसे उत्पन्न हुईं? शिव तो अम्बिका के पिता हुए परन्तु माता कौन हुई? बिना माता-पिता के तो कोई मनुष्य नहीं उत्पन्न होता। जब अम्बिका शिव से उत्पन्न हुईं; तब वे जगत का मूल कारण कैसे हुईं? वे तो स्वयं कार्य हुईं, क्योंकि उत्पन्न हुआ पदार्थ सबका मूल कारण नहीं होता। हजार चन्द्रमाओं के समान उनके मुख की कान्ति बतलाना, यह कितनी अतिशयोक्ति (बतबड़ी) है।

शिव ने काशी नगर उत्पन्न किया, सो किससे उत्पन्न किया, क्योंकि पहले तो तत्त्व-पदार्थ नहीं थे। जब अम्बिका शिवा को शिव ने उत्पन्न किया तब पुनः उनके साथ में विहार करना कितना अन्याय हुआ, क्योंकि वहाँ तो पिता-पुत्री का सम्बन्ध हो गया था। शिवने अपने बाम अंग पर अमृत मल दिया और विष्णु उत्पन्न हो गये—यह कितनी अनर्गल बात है ? यहाँ पर शिव से विष्णु ब्रह्मा आदि की उत्पत्ति मानी गयी, परन्तु अन्य पुराण में विष्णु से ही ब्रह्मा और ब्रह्मा के मस्तक से शिव की उत्पत्ति मानी गयी है।

विष्णु की तपस्या करने से विष्णु के शरीर से जल की धारा निकली और सारा आकाश जलपूर्ण हो गया, यह कितनी लम्बी चौड़ी कल्पना है ? ऐसा मानने वाले अपने शरीर से जल की धारा निकाल कर सारा संसार जल-पूर्ण कर दें, तब चाहे उक्त बात मानी जा सके। सब तत्त्व-प्रकृति यदि पहले नहीं थी, तो बीच में कहाँ से उत्पन्न हो गयी ? सब लेकर विष्णु यदि जल में सो गये, तो सोने का स्थान उनका क्या था ?

'सोये हुए विष्णु के नाभि से शिव की महिमा से कमल निकला। वह अनन्तों योजन लम्बा-चौड़ा था।' भला किसी ने भी अनन्तों योजन लम्बा-चौड़ा कमल-नाल देखा होगा और जब देखा नहीं, तब कहना केवल व्यर्थ

है। एक सूर्य के तेज से तो सब प्राणी विकल हो जाते हैं और जब करोड़ों सूर्य के समान उस कमल-नाल का तेज था, तब उसके प्रबल उष्ण में सृष्टि कैसे उत्पन्न हुई और कैसे सुरक्षित रही ?

शिव का अपने अङ्ग से ब्रह्मा को बनाकर कमल-नाल में डालना और सैकड़ों वर्ष तक कमल-नाल में ब्रह्मा का अपने जन्मदाता की खोज लगाना, तो भी न पता पाना, यह सब वचन असम्भव दोषयुक्त हैं। ब्रह्मा-विष्णु का परस्पर झगड़ा होना, यह शिष्ट-पुरुषों का आचरण कदापि नहीं हो सकता।

सैकड़ों वर्षों तक लिङ्ग को ब्रह्मा-विष्णु का नमस्कार करना, फिर शिव-द्वारा ब्रह्मा-विष्णु को सृष्टि करने की आज्ञा मिलना—यह सब मनगढ़न्त कल्पनायें हैं।

१४. पूर्वपक्ष--'श्रुति कहती है कि सभी सृष्टियों के आरम्भ में आदिशक्ति जगदम्बा से ही अखिल जगत की उत्पत्ति होती है और प्रलयों के अवसर पर प्राणी उसी में लीन भी हो जाते हैं।'

'मधु और कैटभ, इन दो दैत्यों के मर जाने पर जो उनका मेदा जम गया, वही पृथ्वी हो गयी।'

'महा विराट् पुरुष जल में विराजमान् रहता है, उसके

रोम-कूपों से जल-सहित पृथ्वी बार-बार निकल कर जल में छिपती रहती है और उसी पृथ्वी पर सृष्टि होती है।'

(देवीभागवत नवम् स्कन्ध)

उत्तरपक्ष——जगदम्बा से ही जगत् उत्पन्न होता है और उसी में लीन होता है।' इस प्रकार श्रुति एवं देवी-भागवत पुराण में लिखने तथा कहने वाले किस विवेक बल पर लिखते-कहते हैं। जगदम्बा को एक नारी का रूप बताया जाता है, क्या उन्हीं से यह पृथ्वी, सूर्य, चन्द्रादि उत्पन्न हुए हैं? पहले यह बतावें कि जगदम्बा के माता-पिता कौन थे?

मधु-कैटभ के शरीर के मेदा का जम कर पृथ्वी का होना महाकल्पित है। भला जब पृथ्वी नहीं थी, तब मधु-कैटभ कहाँ रहते थे? उनके माता-पिता कौन थे? पृथ्वी शरीर बना था। इतनी पर किन तत्त्वों से मधु-कैटभ का आदि जगत् न रहने महान् पृथ्वी मधु-कैटभ के मेदा से बनी, यह कौन समझदार मान सकता है? जब मधु-कैटभ के मेदा से पृथ्वी जमी ऐसा कहते हैं, तो फिर विराट पुरुष के रोम-कूपों से उत्पन्न कहना व्यर्थ है।

१५. **पूर्वपक्ष**—हिरण्याक्ष इस पृथ्वी को पहले मैले में छिपा दिया था। तब ईश्वर ने शूकर का अवतार धारण

कर और हिरण्याक्ष को मार कर पृथ्वी को लाया।

(देवी भागवत)

उत्तरपक्ष—पृथ्वी को छिपा देने भर के लिये मैला किसने किया था ? कहाँ पर किया था ? पृथ्वी को जब मैले में छिपाया गया, तब वह मैला किस पर स्थित था। जब वराह भगवान् पृथ्वी को मुख में रख कर हिरण्याक्ष से युद्ध करने लगे, तब किस पर खड़ा होकर युद्ध किये ?

१६. पूर्वपक्ष—हिरण्याक्ष को मार कर पृथ्वी को रसातल से जब वराह भगवान लाये, तब पृथ्वी (अधिष्ठात्री देवी) की सुन्दरता देखकर श्रीहरि वराह जी के मन में उससे प्रेम करने की इच्छा हुई और एक दिव्य वर्ष तक एकान्त में पृथ्वी देवी से वराह भगवान् रति-सुख किये, जिससे पृथ्वी को गर्भ रहा। पुनः उसी गर्भ से मंगल नामक ग्रह की उत्पत्ति हुई।

(देवी भागवत नवम स्कन्ध)

उत्तरपक्ष—यह पुराण की लीला और अधिक विचित्र है। पृथ्वी की अधिष्ठात्री देवी कोई अन्य स्त्री तो रही न होगी, जिससे वराह ने सम्बन्ध करके मंगल ग्रह को उत्पन्न किया। क्योंकि साधारण स्त्री से मंगल ऐसा महान् ग्रह उत्पन्न हो नहीं सकता। पुराण का तात्पर्य यह है कि वराह पृथ्वी को देखकर कामासक्त हुए और उससे

भोगकर मंगल ग्रह को जन्म दिये। यह तो एक साधारण मनुष्य भी समझ सकता है कि पृथ्वी मिट्टी आदि तत्त्वों का एक विशाल समूह है, क्या वह मनुष्य की स्त्री के समान है कि उसको देखकर वराह भगवान मोह जायँ और उससे भोग करें? वराह का एक वर्ष तक पृथ्वी के साथ रति करना पृथ्वी को गर्भ ठहरकर और मंगल ग्रह की उत्पत्ति होना, यह कितनी असम्भव बात है?

१७. पूर्वपक्ष--जगत् का कोई भी पदार्थ विना कारण-कर्ता के नहीं बनता। जब तुच्छ घट का बनाने वाला भी कुम्हार रहता है, तब जगत् का रचने वाला कोई कारण-कर्ता अवश्य होगा?

उत्तरपक्ष---जगत् का कोई पदार्थ बिना कारण-कर्ता के नहीं बनता, यह तो कहना ठीक है। जगत् के जो पदार्थ बनते हैं, वे अवश्य किसी कारण या कर्ता-द्वारा बनते हैं। परन्तु जो कभी बनता ही नहीं, वलिक नित्य स्वतः विद्यमान है, उसका कारण-कर्ता किसको माना जा सकता है? पृथ्वी, चक्रदण्डा आदि को लेकर घट को तो कुम्हार बनाता है, परन्तु पृथ्वी को कौन बनाता है? पृथ्वी, जल, तेज तथा वायु के गुण धर्मादि से नाना बेलि वृक्ष, कंकड़, पत्थर, बादल, बर्फ, आँधी, बौडर, बिजली आदि बनते हैं। परन्तु पृथ्वी, जल, तेज तथा वायु किन कारणों से बनते हैं? किसी से भी नहीं।

पृथ्वी, जल, तेज, वायु तथा भूमण्डल, चन्द्र, तारादि का अन्य कोई कारण नहीं दिखता, न इसकी कभी उत्पत्ति दिखती है न नाश दिखता है। यदि ऐसा माने कि संसार में जो कुछ छोटा-बड़ा जड़-चेतन-पदार्थ है, सबका कारण कर्ता अवश्य होगा, अर्थात् भूमण्डल, सूर्य, नक्षत्र, चन्द्र और नाना चेतन आदि का कारण-कर्ता अवश्य होगा। तो इन भूमण्डलादि का जो कारण-कर्ता है, उसका कारण-कर्ता कौन होगा ?

मान लीजिये ! ईश्वर या सूर्य से जगत् उत्पन्न हुआ, तो ईश्वर और सूर्य किससे हुए ? जिससे ईश्वर और सूर्य उत्पन्न हुए, वह किससे हुआ ? इस प्रकार प्रश्न की कहीं स्थिरता न होने से कारण-कर्ता के विषय में अनवस्था दोष उपस्थित होगा।

१८. पूर्वपक्ष—महाप्रलय में जब जगत् नहीं था, शेष पर श्रीनारायण सोये थे। उन्होंने जगत् रचने की इच्छा की, फिर विष्णु के नाभि-कमल से ब्रह्मा उत्पन्न हुए। ब्रह्मा ने विचारा कि मैं कौन हूँ कहाँ से उत्पन्न हुआ हूँ और चारों ओर आकाश में मुख घुमाया कि उनके चार मुख हो गये।

ब्रह्मा ने अपने उत्पन्नकर्ता को कमल-नाल में बहुत समय तक खोजा, किन्तु पता नहीं पाया, फिर सौ वर्षों तक तप

किया, तब विष्णु ने दर्शन दिया और सृष्टि करने को आज्ञा दी। तब ब्रह्मा ने पुनः दिव्य सौ वर्षों तक तप किया, तप करके आँख खोली, तो आकाश में सर्वत्र कमल व्याप्त देखा। फिर उस कमल का तीन लोक और चौदह भुवनों में तथा और भी बहुत भाँति से विभाग किया।

(श्रीमद्भागवत तृतीय स्कन्ध ८-९-१० वें अ० का सार)

उत्तरपक्ष—जब जगत् नहीं था, तब शेष और नारायण किस पर थे। उनके माता-पिता कौन थे? 'चारों ओर आकाश में मुख घुमाने से ब्रह्मा के चार मुख हो गये।' यह कितनी असम्भव बात है। 'तप के पश्चात् ब्रह्मा नेत्र खोले, तो सर्वत्र कमल देखा, फिर उस कमल ही को तीन लोक और चौदह भुवन के रूप में विभाजित किया।' यह कितनी निःसीम कल्पना है? क्या ये समस्त लोक-लोकान्तर उन कमल की पखुड़ियों से ही बने हैं?

१९. **पूर्वपक्ष**—ब्रह्मा जी ने प्रथमतः अन्धतामिस्र, तामिस्र, महामोह, मोह, तम इस पंचपर्वा[1] अविद्या को रचा। इस सृष्टि को अत्यन्त पापी देखकर ब्रह्मा जी को आनन्द नहीं हुआ, अतः दूसरी सृष्टि रचने का विचार किया। अनन्तर सनक, सनन्दन, सनातन, सनत्कुमार

१—पाँच भाग वाला।

इन चारों को ब्रह्माजी ने मन से उत्पन्न किया। वे चारों नैष्ठिक ब्रह्मचारी विरक्त बन गये।

ब्रह्मा जी ने कहा—ऐ पुत्रो! जगत् रचो! तब सनकादिकों ने मोक्षधर्म परायण होने से यह आज्ञा न मानी। अपनी आज्ञा का भंग होना देखकर ब्रह्मा जी को बड़ा क्रोध हुआ। किन्तु अपना पुत्र जानकर क्रोध को रोका। परन्तु क्रोध न रुका। अतएव वह क्रोध भृकुटी के मध्य में नील-लोहित (नील तथा लाल) वर्ण वाला होकर साक्षात् तुरन्त उत्पन्न हुआ। उस बालक ने रोकर कहा-हे विधाता! मेरा नामकरण करो और मेरे रहने का स्थान बताओ। ब्रह्मा ने कहा—तुमने रोते हुए जन्म लिया है, अतः तुम्हारा नाम रुद्र होगा। हृदय, इन्द्रियाँ, प्राण, आकाश आदि में तुम्हारा निवास होगा, तुम सृष्टि करो। रुद्र ने सृष्टि की, सृष्टि भयंकर थी। अतः ब्रह्मा ने रुद्र को तप करने की आज्ञा दी। फिर ब्रह्माजी ने सृष्टि का चिन्तन किया, तब लोक में सन्तान के हेतु (कारण रूप) दश पुत्र उत्पन्न किये-मरीचि, अत्रि, अंगिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, भृगु, वशिष्ठ, दक्ष और नारदजी। ब्रह्माजी की गोद से नारद, अँगूठे से दक्षप्रजापति, प्राण से वशिष्ठ, त्वचा से भृगु, हाथ से क्रतु, नाभि से पुलह, कानों से पुलस्त्यऋषि, मुख से अंगिरा, नेत्रों से अत्रि और मन से मरीचि हुए। दाहिने स्तन से धर्म प्रकट हुआ, पीठ से अधर्म, अधर्म से मृत्यु,

हृदय से कामदेव, भृकुटी से क्रोध, नीचे के ओठ से लोभ, मुख से वाणी, लिंग से समुद्र, छाया से कर्दमऋषि, और मुख से वीणा लिये हुए सरस्वती जी प्रकट हुईं। यद्यपि यह सुन्दरी अकामी थीं, तथापि ब्रह्माजी इसे देखकर, कामातुर हो गये। अपने पिता की बुद्धि अधर्म में लगी देखकर मरीचि आदि ने समझाया। तब ब्रह्माजी अति लज्जित होकर शरीर त्याग दिये। वही शरीर कुहर या अन्धकार रूप से प्रकट हुआ। फिर ब्रह्माजीने दूसरा शरीर धारण कर लिया। फिर चारों मुख से चारों वेद उत्पन्न हुए इत्यादि।

(श्रीमद्भागवत तृतीय स्कन्ध १२ अध्याय)

उत्तरपक्ष–पंचपर्वा अविद्या युक्त पापमयी सृष्टि को ब्रह्मा ने रचा और उन्हें पापी देखकर असन्तुष्ट हुए तथा दूसरी सृष्टि रचने की जो ब्रह्माने इच्छा की, इससे तो यही ज्ञात होता है कि ब्रह्मा सर्वज्ञ न थे। सर्वज्ञ होते तो पापी सृष्टि को क्यों रचते ? सनकादिक चारों ऋषियों को ब्रह्मा ने मन से पैदा किया। यह बात तब सत्य मानी जा सकती है, जब आज कोई मन से एक भी पुत्र उत्पन्न कर दे। हाँ, शिष्य को मानस-पुत्र कहा जाता है। सनकादिक का विरक्त होना देखकर ब्रह्मा को जो क्रोध हुआ, यह कभी ज्ञानी का कार्य नहीं हो सकता।

क्या सबको विषयी बनाकर संसार-गढ्डे में डालना ही उन्हें अभीष्ट था ? ब्रह्मा का क्रोध ही रुद्र रूप होकर उनके मस्तक से उत्पन्न हो गया। यह कितनी असम्भव घटना है। क्या क्रोध भी मूर्तिमान् मानव हो सकता है ? क्या मस्तक से भी सन्तान पैदा होता है? सृष्टि के चिन्तन करने मात्र से ब्रह्मा की गोद से नारद, अँगूठे से दक्षप्रजापति आदि हुए। यह महा असम्भव बात है। हाथ, पैर, आँख आदि से भी मनुष्य उत्पन्न हो सकते हैं ? भला यह बात आज कोई प्रत्यक्ष कर सकता है ? ब्रह्मा के मुख से वीणा लिये सरस्वती उत्पन्न हुईं। कोई वीणा बनाकर क्या ब्रह्मा के मुख में पहले से डाल रखा था? जो उसको लेकर सरस्वती निकलीं। सरस्वती को देखकर ब्रह्मा मोहित हो गये। क्या ऐसे लोग सृष्टि ही रचने की शक्ति रखते हैं; जो अपने मन को पुत्री से भी न रोक सकें। ऐसी-ऐसी बातों को लिखकर पुराणों को लोग गन्दा कर दिये हैं। यदि ये बेढङ्गी और निन्दयी बातें न लिखकर केवल सदाचार और मानव-सुधार की ही बातें लिखी जातीं, तो कितना सुधार होता ? असम्भव दोषों से पूर्ण इन बेढङ्गी कल्पनाओं का मोह लोगों को इतना दृढ़ हो गया है कि इनका खण्डन करके सत्य-सत्य जड़-चेतन का निर्णय बताओ, तो भूले जन क्रोध करते हैं। कहा है—

"साँच कहौं तो मारन धावे। झूठे जग पतियाना।"

परन्तु सत्य-सत्य ही है और झूठ झूठ ही रहेगा।

२०. पूर्वपक्ष—दक्षप्रजापति से तेरह लड़कियाँ हुईं। उन तेरह लड़कियों का विवाह कश्यप से हुआ। उन तेरह स्त्रियों के दिति, अदिति, दनु, बिनता, कद्रु, सरमा, इत्यादि नाम थे। अदिति से सूर्य, दिति से दैत्य, दनु से दानव, बिनता से पक्षी, कद्रू से सर्प, सरमा से कुत्ते, सियार आदि हुए और अन्य स्त्रियों से हाथी, घोड़े, ऊँट, गधा, भैंसा, घास, फूस, बबूल आदि उत्पन्न हुए।

उत्तरपक्ष—कश्यप की दिति-अदिति आदि स्त्रियों से स्थावर-जङ्गम सब उत्पन्न हुए। यह कथन कितना बाल-वचन है? अदिति नामक स्त्री से सूर्य उत्पन्न हुआ, भला जलता हुआ विशाल जड़-अग्नि-पिण्ड सूर्य क्या मनुष्य की स्त्री से उत्पन्न हो सकता है? विकासवादियों ने सूर्य से सारे संसार की उत्पत्ति मानी, तो पौराणिकों ने एक साधारण स्त्री से ही सूर्य की उत्पत्ति मान ली। विकास-वादियों की दृष्टि से सबका पूर्वज सूर्य है, तो पौराणिकों की दृष्टि से सूर्य का भी पूर्वज अदिति नामक एक साधारण स्त्री है। मनुष्य की स्त्री से सर्प, पक्षी, कुत्ता, सियार, गधा, ऊँट और घास, फूस तथा बबूलादि को उत्पन्न होते किसी ने भी आज तक न देखा होगा? ऐसा तीनों काल में भी सम्भव नहीं है।

२१. पूर्वपक्ष—सर्वप्रथम सारे संसार को शून्य अन्धकारमय देखकर सबके कारण श्रीकृष्ण ने जगत् रचने की इच्छा की। अतः उन्होंने ब्रह्मा, विष्णु, शिव, तत्त्व, प्रकृति, सावित्री, कामदेव, रति आदि सबको उत्पन्न किया।

श्रीकृष्ण का शुक्र (वीर्य) जल में गिरा। वह एक हजार वर्ष के पश्चात् अण्डे के रूप में प्रकट हुआ। उसी से महान विराट पुरुष की उत्पत्ति हुई, जो सम्पूर्ण विश्व का आधार है। उस विराट् पुरुष के एक-एक रोम में एक-एक ब्रह्माण्ड की स्थिति है। वह स्थूल से भी स्थूलतम है। वह श्रीकृष्ण का सोलहवाँ अंश है। उसीको महाविष्णु जानना चाहिये। उसके शयन करने के समय कानों के मैल से दो दैत्य प्रकट हुए। वे दोनों जल से उठकर ब्रह्मा जी को मार डालने के लिये उद्यत हो गये। तब भगवान् नारायण ने उन दोनों को चक्र से मार डाला। उन दोनों के सम्पूर्ण मेदे से यह सारी पृथ्वी निर्मित हुई। जिससे इसका नाम मेदिनी हुआ। उसी पर सम्पूर्ण विश्वकी स्थिति है। उसकी अधिष्ठात्रीदेवी का नाम वसुन्धरा है।

(ब्रह्मवैवर्तपुराण, ब्रह्मखण्ड अध्याय ३–४)

उत्तरपक्ष—जब सब शून्य अन्धकारमय था तब श्रीकृष्णजी कहाँ थे ? जगत के पूर्व श्रीकृष्ण किससे हुए, उनके माता-पितादि कौन थे ?

श्रीकृष्ण का वीर्य जल में गिरकर हजारों वर्ष में विष्णु हुआ, विष्णु के कानों से दैत्य हुए, विष्णु ने दैत्य को मार-कर उनके शरीर से मेदनी बनायी। विष्णु के प्रथम जब पृथ्वी नहीं थी तब जल किसपर था, जिस पर कि कृष्ण का वीर्य गिरा था? ये सब पौराणिक कल्पनायें निराधार हैं।

२२.पूर्वपक्ष--फल[1], गदा और चर्म[2] धारण करने वाली महालक्ष्मी आदिशक्ति माया का प्रथम अवतार है। आपने पहले कालरात्रि और सरस्वती नामक दो शक्ति (पुत्रियों) को उत्पन्न करके, पुरुष रूप में ब्रह्मा को और स्त्रीरूप में श्री (लक्ष्मी) को उत्पन्न किया।

महालक्ष्मी ने अपनी पुत्रियों से कहा कि मेरे समान तुम दोनों भी जोड़ा उत्पन्न करती जाओ। तब कालरात्रि ने पुरुष रूप महादेव को तथा स्त्री रूप 'स्वरा' को उत्पन्न किया। इधर सरस्वती ने भी विष्णु और गौरी को उत्पन्न किया। तब महालक्ष्मी ने विवाह किया और कराया भी। तद्नुसार ब्रह्मा को स्वरा, विष्णु को श्री और शिवको गौरी समर्पित करके उन्हें शक्तियुक्त कर दिया, तथा उन्हें क्रमशः सृष्टि, स्थिति और संहार नामक कर्म बतलाया।

(शक्तिसंप्रदाय)

उत्तरपक्ष—आदिशक्ति माया का अवतार प्रथम हुआ तो किन से हुआ? उनके माता-पिता कौन थे? वे

१—बाण-भाले। २—ढाल।

दो पुत्रियों को उत्पन्न कीं, तो किस पुरुष से सम्बन्ध करके उत्पन्न कीं ? इत्यादि; यह भी एक कल्पना की उड़ान है।

२३ पूर्वपक्ष —प्रलय के अन्त में सर्ग (सृष्टि-उत्पत्ति) के आदि में जगत् परब्रह्म परमात्मा के हृदय में लीन रहता है। जब वह जगत् बनाने की इच्छा करता है। तब प्रकृति उत्पन्न होती है, फिर महत्तत्त्व, महत्तत्त्व से अहंकार, अहंकार से पाँच विषय, पाँच विषयों से पाँच तत्त्व। अर्थात् शब्द से आकाश, आकाश से वायु, फिर अग्नि, जल और पृथ्वी क्रमशः एक-से-एक उत्पन्न होते हैं। फिर कर्म-इन्द्रियाँ ज्ञान-इन्द्रियाँदि उत्पन्न हुईं। पुनः ये सब पृथक्-पृथक् सृष्टि उत्पन्न करना चाहे, फिर सब मिलकर सृष्टि करना चाहे, परन्तु न कर सके। तब सब एक में मिलकर और पुरुष-प्रकृति भी मिलकर एक अण्डाकार बन गये। फिर वह अण्डा बढ़ने लगा। पुनः जल के बबूले के समान बढ़ते-बढ़ते महान हो गया और बहुत दिन तक उसी जल में पड़ा रहा। फिर उस अण्डे में परमात्मा प्रवेश किया और अण्डा फूट गया तथा उसमें से समुद्र नदी, द्वीप, पर्वत, वन मनुष्य, पशु आदि तथा सूर्य, चन्द्र, नक्षत्रादि सारा जगत् उत्पन्न हो गया। उसी में से ब्रह्मा-विष्णु आदि त्रिदेव भी उत्पन्न हुए।

(नरसिंह पुराण, प्रथम अध्याय)

उत्तरपक्ष—विवेक से जगत्-कर्ता सिद्ध नहीं होता। फिर उसके हृदय में जगत् लीन क्या रहेगा ? उससे पहले प्रकृति उत्पन्न हुई—कहते हैं, सो प्रकृति क्या वस्तु है ? प्रकृति तो स्वभाव को कहते हैं और स्वभाव पदार्थ में रहता है, फिर जब सृष्टि के प्रथम कोई पदार्थ ही न था, तो स्वभाव किसमें उत्पन्न हुआ ? प्रकृति से महतत्त्व (महान्-बुद्धि) और उसमें अहंकार उत्पन्न हुआ--कहते हैं। तो बुद्धि और अहंकार तो देहधारी प्राणी में उत्पन्न होते हैं। यों हीं निराधार बुद्धि-अहंकार कहाँ उत्पन्न हो गये ? कहते हैं अहंकार से पाँच विषय और पाँच विषयों से पाँच तत्त्व उत्पन्न हुए। यह कितना अँधेर-कथन है ? भला अहंकार कौन-सा ऐसा पदार्थ है कि उससे पाँचगुण (शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध) उत्पन्न होंगे ?

अहंकार-बुद्धि आदि तो मानसिक दशायें हैं, ये कोई पदार्थ नहीं हैं। फिर भावना से पंच विषयरूप पदार्थों की उत्पत्ति मानना, सर्वथा अनुचित है और उन पाँच विषयों से पाँच तत्त्वों की उत्पत्ति कहना पुत्र से पिता की उत्पत्ति मानना है ! गुणी से गुण की उत्पत्ति होती है कि गुण से गुणी की ? अर्थात् गुणी से ही गुण की उत्पत्ति होती है, गुण से गुणी की उत्पत्ति कभी किसी ने नहीं देखी। सूर्य से प्रकाश उत्पन्न होता है, परन्तु प्रकाश से सूर्य नहीं उत्पन्न होता । सूर्य गुणी है और प्रकाश उसका गुण है।

इसी प्रकार चार जड़ तत्त्वों में ही पाँच विषय हैं, जिससे उन चार तत्त्वों के विविध मेल से भाँति-भाँति के पाँच विषय के कार्य उत्पन्न होते हैं। चार तत्त्व गुणी हैं और शब्द, स्पर्श, रूप, रस, तथा गन्ध—ये पाँचों विषय गुण हैं। परन्तु पूर्वपक्षी ने तो शब्दादिक विषयरूप गुण ही से पृथ्वी आदि चार तत्त्व रूप गुणी की उत्पत्ति मानी है। पूर्वपक्षी का जहाँ तक सृष्टि-उत्पत्ति का कथन है, सब प्रायः शून्यवाद रूप है। प्रथमतः इनका कर्ता ही कल्पित है; पुनः महत्तत्त्व (बुद्धि), अहंकार, प्रकृति सब निराधार अर्थात् शून्य, वन्ध्या पुत्रवत् हैं। इन्हीं कल्पित पदार्थों से इनकी सृष्टि-उत्पत्ति का कथन है।

आगे देखते ही जाइये। कहते हैं—'शब्द से आकाश उत्पन्न हुआ।' शब्द तो वायु का गुण एवं पदार्थ है, पदार्थ होने से ही तार, फोन, रेडियो, ग्रामोफोन तथा टेपरेकार्ड आदि द्वारा पकड़ लिया जाता है। और आकाश क्या पदार्थ है, जो शब्द से उत्पन्न हुआ? पुनः कहते हैं, आकाश से वायु उत्पन्न हुआ। आकाश तो शून्य है, फिर शून्य से वायु-पदार्थ कैसे उत्पन्न होगा? क्या अभाव से भाव उत्पन्न होता है? श्रीकृष्णजी गीता में कहते हैं—"

"नासतो विद्यते भावो, नाभावो विद्यते सतः।"

अर्थात्—"असत्य का भाव नहीं होता और सत्य का अभाव नहीं होता।"

(गीता २।१६)

इसी प्रकार वायु से अग्नि और अग्नि से जल, पृथ्वी आदि की उत्पत्ति मानना भी वन्ध्यापुत्र की कल्पना करना है। तत्त्वों के उत्पन्न होने के पश्चात् कर्म इन्द्रियाँ और ज्ञान इन्द्रियाँ उत्पन्न हुईं। ऐसा पूर्वपक्षी ने कहा है, तो बिना चेतन के कहीं भी जड़ तत्त्वों में इन्द्रियाँ उत्पन्न होते आज तक कोई देखा है? और जब देखा नहीं, फिर आगे ऐसा हुआ है-कहना ठीक नहीं।

कहते हैं ये सब तत्त्व-प्रकृति और इन्द्रियाँदि पृथक्-पृथक् सृष्टि करना चाहे, परन्तु न कर सके। तब सब मिलकर करना चाहे, परन्तु तो भी न कर सके। यहाँ पूछना है कि तत्त्व, प्रकृति और इन्द्रियाँ जड़ हैं कि चेतन? जब ये सब जड़ हैं, तब ये सृष्टि रचना करने को चाहेंगे क्या? चाहना तो प्राणी में होती है, जड़ में नहीं। कहते हैं अन्त में सब मिलकर एक अण्डाकार हो गया और बहुत दिन तक जल में पड़ा रहा, फिर फूटा और सारा संसार—सूर्य, चन्द्र, द्वीप, समुद्र, वन, मनुष्य आदि उसमें से उत्पन्न हो गये। अहो! क्या अन्धेर कथन है? वे तत्त्व-प्रकृति और चेतन सब मिलकर और अण्डा बनकर जल में बहुत दिन तक पड़े रहे, ऐसा कहते हैं। परन्तु पहले तो

समुद्र था नहीं, फिर वह जल कहाँ था ? क्योंकि समुद्र तो अण्डा फूटने पर हुआ है। विचार कीजिये ! जिस अण्डे में सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, वन, समुद्र, मनुष्य सब स्थित थे, वह अण्डा कितना विराट रहा होगा ? फिर उस अण्डे को धारण करने के लिये कितना विस्तृत जल चाहिये ? और उस जल को धारण करने के लिये कितनी बड़ी पृथ्वी की आवश्यकता है ? क्योंकि "बिन थल के जल रहि न सकाई। कोटि भाँति कोइ करे उपाई॥" (रामा०)

इसलिये ऐसा ज्ञात होता है कि उस अण्डे-सहित जल को धारण करने के लिये इस पृथ्वी से अरबों-खरबों गुणा अधिक लम्बी-चौड़ी पृथ्वी रही होगी। तभी तो वह अण्डा उसमें रह सका कि जिस अण्डे में पृथ्वी से कई गुणा बड़ा सूर्य और चन्द्र, अनन्त तारागण तथा यह भूमण्डल, मनुष्यादि थे। कहते हैं उसी अण्डे में से ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर भी उत्पन्न हुए। अन्य पुराणों में इनकी उत्पत्ति अन्य-अन्य रूप से बतलायी गयी है। अतएव सृष्टि-उत्पत्ति कथन में पूर्वपक्षी की सब बातें विरोधी होने से असंगत हैं।

२४. पूर्वपक्ष—प्रथमतः ब्रह्मा ने सब शून्य देखा तब सृष्टि की भावना की, इतने में एक बालक गोद में उत्पन्न हो गया। जिसका शरीर आधा स्त्री और आधा पुरुष का था। तब ब्रह्मा ने कहा कि तुम स्त्री-पुरुष भिन्न-भिन्न हो

जाओ। अतः पुरुष अलग होकर ग्यारह रुद्र हो गये और स्त्री भिन्न होकर ग्यारह नारियाँ हो गयीं। जिन सब नारियों का नाम उमा पड़ा। उन्हीं से सृष्टि हुई।

(नरसिंह पुराण पांचवां अध्याय)

उत्तरपक्ष—प्रथम अध्याय में पूर्वपक्षी ने कहा कि अण्डे से सूर्य, चन्द्र नक्षत्र, पृथ्वी, द्वीप, समुद्र, वन, मनुष्य सब हो गये। फिर पाँचवे अध्याय में कहा कि "प्रथम ब्रह्मा ने सब शून्य देखा, तब सृष्टि की भावना की।" ये दोनों बाते कितनी विरोधी हैं ? पृथ्वी, मनुष्यादि की उत्पत्ति का कथन जब प्रथम अध्याय ही में आ गया, तब पाँचवें अध्याय में यह क्यों कहा कि ब्रह्मा ने सब शून्य देखा ? सृष्टि की भावना करते ही ब्रह्मा की गोद में बालक उत्पन्न हो गया-- यह युक्ति-प्रमाण से सर्वथा विषम है। आज कोई भावना मात्र से पुत्र उत्पन्न करले, तब यह बात सच्ची मानी जाय। आधा शरीर स्त्री का और आधा शरीर पुरुष का होना फिर आधे-आधे से ग्यारह-ग्यारह हो जाना, यह सब निरी कल्पना, युक्ति-प्रमाण-रहित अनर्गल बाते हैं।

श्रौतखण्ड से पुराणखण्ड तक वैदिक विचार-धाराओं में देखा गया, तो सृष्टि-उत्पत्ति-क्रम के अनेक मत मिले। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि इन विभिन्न श्रुति, स्मृति उपनिषदों एवं पुराणों के रचयिता विभिन्न ऋषि थे। जिनसे

जैसा बना, उस प्रकार उन्होंने सृष्टिके विषय में कल्पना की।

"भिन्न-भिन्न कल्पों में भिन्न-भिन्न प्रकार सृष्टि हुई। कल्पभेदानुसार ऋषियों ने भिन्न-भिन्न कथन किये।" यह तर्क समीचीन नहीं। क्योंकि ऋषियों ने यह नहीं कहा कि मैं अमुक कल्प का सृष्टिक्रम कह रहा हूँ, और दूसरे अमुक कल्प का कहे हैं। बल्कि अपना-अपना ही कथन सभी ने प्रमाणित माना है; और सांख्य न्याय तथा वेदान्त आदि के मत में विरोध भी है।

इसके अतिरिक्त वेद में तो सभी कल्पों में एक ही प्रकार सृष्टि होना माना है, यथाः—

सूर्य्याचन्द्रमसौ धाता यथा पूर्वमकल्पयत्।
दिवं च पृथिवीं चांतरिक्षमिथो स्वः॥
(ऋग्वेद मं० १० सू० १९० मन्त्र ३)

अर्थ—'सूर्य, चन्द्रमा, दिव (स्वर्ग) पृथ्वी, अन्तरिक्ष आदि को धाता (सबको धारण करने वाले परमेश्वर) ने जैसे पहले थे, वैसे ही रचा।'

वेद में जब एक ही प्रकार सब कल्पों में सृष्टि-क्रम माना, तो अन्य उपनिषद, शास्त्र एवं पुराणों में भिन्न-भिन्न क्यों? यों पहले ईश्वर तो सिद्ध हो, तब वह सृष्टि एक प्रकार या विभिन्न प्रकार बनाये।

सामान्यखंड

२५. पूर्वपक्ष—महासर्ग के आदि में ईश्वर ने सूक्ष्म तत्त्वों को इकट्ठा किया, उसी का नाम प्रकृति है, फिर प्रकृति से महत्तत्त्व, अहंकार, सूक्ष्म पाँच भूत, पाँच ज्ञान इन्द्रियाँ, पाँच कर्म इन्द्रियाँ, मन, फिर पाँच विषय, पाँच स्थूल तत्त्व, औषध, वनस्पति, अन्न, वीर्य, फिर शरीर क्रमशः एक-से-एक उत्पन्न हुए। प्रथम शत सहस्रों शरीरों की रचना बिना रजवीर्य के ईश्वर ने तिब्बत देश में की। फिर पीछे से मैथुनी सृष्टि आरम्भ की। प्रथम ईश्वर ने नर-नारियों को बालक-वृद्ध नहीं उत्पन्न किया, बल्कि नवयौवन तथा नवयुवती बनाया। क्योंकि यदि बालक-बालिका रूप में बनाता, तो उनकी रक्षा कौन करता और वृद्ध रूप में बनाता, तो मैथुनी सृष्टि कैसे होती ? अतः ईश्वर ने नव-यौवन तथा नवयुवती को ही बनाया।

(सत्यार्थ प्रकाश, अष्टम समुल्लास)

उत्तरपक्ष—जब ईश्वर को आप निराकार मानते हैं, तब निराकार ईश्वर साकार सूक्ष्म तत्त्वों को कैसे इकट्ठा किया। क्योंकि साकार-निराकार का सम्बन्ध नहीं होता वेदान्तदर्शन में श्री वेदव्यास जी कहते हैं—

"सम्बन्धानुपपत्तेश्च" ॥ वेदान्त अ० २ पा० २ सू० ३८ ॥

अर्थात्—निराकार ईश्वर और साकार परमाणुओं का सम्बन्ध अनुपपत्ति अर्थात् न सिद्ध होने से ईश्वर-प्रकृति के योग से सृष्टि मानना व्यर्थ है।'

प्रकृति को अधिष्ठेय एवं ईश्वर को प्रकृति का अधिष्ठान मानना भी अयुक्त है। इस पर श्री वेदव्यास जी कहते हैं—

"अधिष्ठानानुपपत्तेश्च"॥ वेदान्त अ० २। पा० २ सू० ३९॥

अर्थात्—'अधिष्ठान को संगति न होने के कारण ईश्वर को जगत्-उत्पत्ति का निमित्त कारण मानना उचित नहीं है।'

तात्पर्य यह है कि जैसे मिट्टी आदि साधन सामग्री का अधिष्ठाता होकर कुम्भकार घट आदि कार्य की रचना करता है, वैसे प्रधान-प्रकृति आदि का अधिष्ठाता होकर ईश्वर जगत् की रचना नहीं कर सकता। क्योंकि कुम्भकार की भाँति न ईश्वर के शरीर है और (उनके मान्यतानुसार) न मिट्टी की भाँति प्रधान-प्रकृति आदि ही साकार स्थूल पदार्थ हैं। अतः रूपादि से रहित प्रधान-प्रकृति आदि ईश्वर का अधिष्ठेय कैसे हो सकते हैं ?

यदि प्रकृति को साकार (परमाणु) ही माने, तो भी निराकार ईश्वर से उसका सम्बन्ध न होगा, क्योंकि साकार-निराकार का सम्बन्ध नहीं होता, यह नियम है। अतः ईश्वर को जगत् का निमित्त कारण मानना भ्रम है। और

प्रकृति से महत्तत्त्व अर्थात् बुद्धि या मन उत्पन्न हुआ तथा उससे अहंकार, यह कथन भी असंगत है। देहधारी चेतन प्राणी के अतिरिक्त केवल जड़ प्रकृति में मन, बुद्धि, अहंकारादि उत्पन्न होते किसी ने भी नहीं देखा, और मन, बुद्धि, अहंकार ही से तत्त्व, पंच विषय, इन्द्रियाँ उत्पन्न होना—यह भी युक्ति प्रमाण से रहित है। क्योंकि मन, बुद्धि, अहंकारादि तो अन्तःकरण की अवस्थायें हैं और तत्त्व, विषय, इन्द्रियाँ महान् स्थूल पदार्थ हैं।

तत्त्वों से औषध, वनस्पति अन्न तथा उससे वीर्य इत्यादि क्रमशः एक-से-एक उत्पन्न होना--कहना सर्वथा न्याय-विरुद्ध है। तत्त्वों से वनस्पति अन्नादि अवश्य उत्पन्न होते हैं, परन्तु अन्नादि से स्वतः वीर्य नहीं उत्पन्न होता। बल्कि अन्न को जब मनुष्य खाता है, तब मनुष्य के शरीर में वीर्य उत्पन्न होता है।

"ईश्वर ने प्रथम शत-सहस्रों शरीरों की रचना बिना रज-वीर्य के तिब्बत देश में की।" यह कथन बिलकुल कल्पित एवं निराधार (युक्ति-प्रमाण-रहित) है। पूर्वपक्षी ने प्रथमतः कहा कि "तत्त्व से औषध, औषध से वनस्पति, वनस्पति से अन्न और अन्न से वीर्य उत्पन्न हुआ।" फिर पीछे कहा कि "ईश्वर ने शतसहस्रों शरीरों की रचना बिना रज-वीर्य के किया।" तो जब बिना रज-वीर्य के ही प्रथम

शरीर रचने की इच्छा ईश्वर के थी, तब प्रथम उसने अन्न से वीर्य किसलिये उत्पन्न किया ? कि अन्न से वीर्य उत्पन्न करने के पश्चात् ईश्वर ने विचार किया कि प्रथम हमें बिना रज-वीर्य के ही सृष्टि की रचना करनी है ? इससे तो ईश्वर परिणाम ज्ञान से हीन सिद्ध होता है।

बिना माता-पिता एवं बिना रज-वीर्य के कहीं भी मनुष्यों या अण्डज-पिण्डजों की उत्पत्ति नहीं देखी जाती। बिना रज-वीर्य के मनुष्यादि की सृष्टि के प्रतिपादन में शब्द-प्रमाण के अतिरिक्त अन्य कोई भी प्रत्यक्ष एवं युक्ति-प्रमाण नहीं है। जो वस्तुयें जिस प्रकार आज नहीं होतीं वे प्रथम उस प्रकार हो गयी थीं–यह कहना कल्पना मात्र है।

"पहले ईश्वर ने तिब्बत देश में युवक-युवती, नर-नारियों को बनाया।" क्या वह आर्यावर्त (भारतदेश) में नहीं बना सकता था ? यदि तिब्बत भी आर्यावर्त है तो चारों खानियों की उत्पत्ति का मूल स्थान तिब्बत देश जो पूर्वपक्षी ने माना, वह किस प्रमाण से ? पृथ्वी के सभी भाग सृष्टि के अयोग्य थे, तिब्बत ही उस योग्य था, इसका क्या प्रमाण ? विचार करने से यह केवल मन की कल्पना ही सिद्ध होती है। पहले ईश्वर ने बालक-बालिकाओं को न बनाकर युवक-युवतियों को बनाया—यह किसने देखा, किस युक्ति-प्रमाण से माना ?

क्या आज भी बिना माता-पिता और बिना रज-वीर्य

के एकभी युवक-युवती नर-नारी को ईश्वरादि बना सकता है ? कदापि नहीं ।

"बीरबहूटी (लालरंग के कीड़े) पृथ्वी में पैदा होकर और बढ़कर फिर बाहर आ जाते हैं । इसी प्रकार आदि काल में सब खानि के प्राणी पृथ्वी के भीतर शरीर धारण कर बाहर आ गये"-इसका क्या प्रमाण ? क्या यह पौराणिक कल्पना से कम है ।

२६.पूर्वपक्ष---रचना का होना राधास्वामीधाम से आरम्भ हुआ और बहुतकाल के बाद यह पृथ्वी प्रत्यक्ष रूप में आयी । इसकी आदि अवस्था और इस समय की अवस्था में बहुत अन्तर समझना चाहिये । जब यह जाहिर हुई, उस समय चारिखानि की रचना का विस्तार नहीं हुआ था । चैतन्यता की विशेषता और पृथ्वी के कड़ेपन में अत्यन्त न्यूनता थी; इत्यादि ।

उत्तरपक्ष—राधास्वामी का धाम कहाँ है ? क्या पदार्थ लेकर किसने रचना आरम्भ की ? यह घटना किसने देखी थी और सृष्टि आदि काल तथा वर्तमान काल के अन्तर को किसने देखा ? चैतन्यता में विशेषता और पृथ्वी में कड़ापन नहीं था, तो किसने चेतनता का विकास किया और किसने पृथ्वी को कठोर बनाया ? यह सब व्यर्थ बाते हैं ।

२७. पूर्वपक्ष—सत्य लोक में कमल पुष्प में सत्पुरुष स्थित था। उसे इच्छा हुई जगत् रचूँ। फिर उसने शब्द उच्चारण किया और सोरह पुत्र हुए और शब्द ही से अनेकों लोक-लोकान्तर एवं अठासी हजार द्वीप की उत्पत्ति हुई। मुख्य-मुख्य एक-एक द्वीप में सोरहों पुत्रों को स्थान दिया और अमृत आहार करने को दिया। इन सोरह पुत्रों में से एक धर्मराय ने चौसठ युग तक एक पैर के आधार से खड़ा होकर सत्पुरुष की तपस्या (आराधना) किया कि हम कहाँ ठहरें ? सत्पुरुष ने कहा—तुम मान सरोवर द्वीप पर जाओ। तब धर्मराय ने पुनः चौसठ युग पैर के आधार पर खड़ा होकर तपस्या किया कि मान-सरोवर पर तो शून्य है। सत्पुरुष ने कहा—जगत् रचना करो। धर्मराय ने कहा—क्या वस्तु लेकर जगत् की रचना करें ? सत्पुरुष ने कहा—मेरे सोरह पुत्रों में से कूर्म नामक एक पुत्र है। उसके पेट में संसार की सृष्टि रचने की सामग्री है। तब धर्मराय जाकर कूर्म का पेट फाड़ दिया। फिर तो उसके उदर से सूर्य, चन्द्र, नौ ग्रह और पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु आदि सब उत्पन्न हो गये।

सत्पुरुष ने एक अष्टाङ्गी नामक कन्या उत्पन्न की और धर्मराय के पास भेजा। धर्मराय का दूसरा नाम 'काल निरंजन' है। अष्टांगी कन्या जब काल निरंजन के पास आयी, तो काल-निरंजन उसे निगल गया। फिर सत्पुरुष

की कृपा से काल निरंजन के उदर से कन्या निकली और भयभीत हुई। पुनः काल निरंजन ने कहा—भयभीत मत हो, तुम हमारी नारी हो, मैं तुम्हारा पुरुष हूँ। अष्टांगी ने कहा – नहीं; पहले के आप हमारे बड़े भाई हैं और आप के पेट में जाने से अब मैं आप की कन्या हुई। यदि स्त्री-पुरुष का नाता जोड़ोगे तो पाप होगा। काल-निरंजन ने कहा—पाप-पुण्य कुछ नहीं, मैं सब का कर्ता हूँ। मेरे से कोई हिसाब लेने वाला नहीं है। सत्पुरुष ने तुम्हें हमारे पास सृष्टि रचने के लिये भेजा है, इत्यादि बातें दोनों में हुईं और एकमत हो गया। कन्या के मर्म-स्थल नहीं था, अतः कालनिरंजन ने नख से चीरकर बनाया और तीन बार रति किया, फिर क्रम से ब्रह्मा, विष्णु तथा शम्भु उत्पन्न हुए। अष्टांगी की आज्ञा से इन तीनों ने समुद्र-मथन किया फिर वेद निकले और ब्रह्मानी आदि तीन कन्यायें निकलीं, फिर सृष्टि का विस्तार हुआ। (इत्यादि बड़ा विस्तार से लिखा गया है।)

(अनुरागसागर, आदि उत्पत्ति)

उत्तरपक्ष --क्या सत्पुरुष को रहने का स्थान क्षण-भंगुर कमल-पुष्प ही था ? सत्पुरुष के शब्द मात्र उच्चारण से ही सोरह पुत्र, अनेक लोक-लोकान्तरों तथा अठासी हजार द्वीपों की उत्पत्ति हो गयी-यह कल्पना तो पौराणिक

कल्पनाओं से भी बढ़ गयी। धर्मराय ने चौसठ युग तक एक पैर के बल पर खड़ा होकर तपस्या किया—ऐसा कहने वाले पूर्वपक्षी एक ही युगतक एक पैर के बल पर खड़ा रहकर दिखलावें तो उनकी बात कदाचित् कुछ सत्य मानी जाय। जब पहले यह कहा गया कि सत्पुरुष के शब्द-उच्चारण मात्र से लोक-लोकान्तर और अठासी हजार द्वीप उत्पन्न हो गये, फिर पीछे यह क्यों कहा कि कूर्म के पेटमें ही सारा संसार भरा था, तब काल निरंजन-द्वारा कूर्म के पेट फाड़ने पर पृथ्वी, सूर्य, चन्द्रादि उत्पन्न हुए? प्रचण्ड तेजोमय विशाल सूर्य एवं चन्द्र, पृथ्वी, नक्षत्रादि क्या कूर्म के पेट में रह सकते थे? प्रथम जब पृथ्वी, जलादि तत्त्व नहीं थे, तब कूर्म का पेट कैसे बना? अनन्त ब्रह्माण्ड को उदर में धारण करने वाला कूर्म स्वयं कहाँ पर स्थित था?

काल निरंजन और अष्टांगी की गाथा कल्पित है। काल निरंजन के नख-द्वारा अष्टाङ्गी के मर्म स्थल का निर्माण होना, अष्टाङ्गी की आज्ञा से ब्रह्मादि त्रिदेवों का समुद्र मथन करना और समुद्र से वेद, तीन कन्यायें आदि निकलना, ये सब बिलकुल मन की कल्पना, बाल-वचन मात्र हैं। विवेकवान् ऐसी झूठी गाथाओं के भ्रम में नहीं पड़ते।

विदेशीय मत

बाइबिलखंड

कुरानखंड

विकासवाद खंड

बाइबिलखंड

२८.पूर्वपक्ष—आदि में यहोवा परमेश्वर ने आकाश और पृथ्वी की सृष्टि की। पृथ्वी बेडौल सूनसान पड़ी थी। गहिराव पर अँधियारा था। जल में ईश्वर का आत्मा मण्डलाता था। परमेश्वर ने कहा उजियाला होवे। उजियाला हो गया। ईश्वर ने उजियाला देखा और कहा अच्छा है। फिर उजियाले को अँधियारे से अलग किया। उजियाले को दिन तथा अँधियारे को रात कहा, तथा साँझ हुई फिर भोर हुआ। इस प्रकार पहला दिन हुआ। फिर परमेश्वर ने जल में अन्तर किया। उस अन्तर को आकाश कहा अतः दूसरा दिन हो गया। फिर ईश्वर ने जल को इकट्ठा करके समुद्र बनाया और पृथ्वी को सूखी बनाया तथा साग और बीज-वृक्षादि उत्पन्न किया, इस प्रकार तीसरा दिन हुआ। फिर आकाश में सूर्य, चन्द्र एवं तारों को बनाया और देखा तो अच्छा कहा तथा चौथा दिन हो गया।

इस प्रकार पाँचवे दिन में ईश्वर ने कृमि, कीट और पक्षियों को बनाया तथा छठे दिन में ईश्वर ने पशुओं को बनाया और अपने ही स्वरूप के अनुसार नर-नारियों (मनुष्यों) को बनाया और उन्हें देखा तो अच्छा है

करके माना। इस प्रकार पूरी सृष्टिको छः दिन में उत्पन्न करके सातवें दिन विश्राम किया और उस दिन को आशीष दिया तथा पवित्र ठहराया।

(बाइबिल उत्पत्ति १—३१, २—३)

उत्तरपक्ष—आदि में यहोवा परमेश्वर ने पृथ्वी आकाश को क्या पदार्थ लेकर बनाया ? पृथ्वी बेडौल थी, तब डौलदार किसने किया ? 'ईश्वर का आत्मा जलपर मण्डलाता था।' भला ! आत्मा कोई दृश्य-पदार्थ है कि वह जल पर मण्डलायेगा ? और ईश्वर क्या कहीं पृथक् था कि उसका मात्र आत्मा ही जल में मण्डलाता था ?

और परमेश्वर के अतिरिक्त तो अन्य कोई था नहीं, फिर कौन देखा कि ईश्वर ने पृथ्वी आदि बनाया तथा जल पर ईश्वर का आत्मा मण्डलाता था ? जब पहले सूर्य नहीं था, तब ईश्वर के कहने मात्र से उजियाला कहाँ से हो गया ? क्या जड़ उजियाला ईश्वर के वचन को सुन लिया ? 'ईश्वर ने उजियाले को अंधियारे से अलग किया।' क्या उजियाले और अँधियारे दोनों एक में मिले थे ? जब आकाश और पृथ्वी ईश्वर ने पहले बना दिया था, तब पीछे ऐसा पुनः क्यों लिखा कि जल में अन्तर करके आकाश बनाया ? ईश्वर ने तीसरे दिन में समुद्र बनाया और साग-वृक्षादि बनाया और चौथे दिन में सूर्य, चन्द्र, तारागणादि बनाया।

सो क्या पदार्थ लेकर बनाया। 'चौथे दिन सूर्य बनाया' कहना व्याघात दोषयुत है। जब पहले सूर्य नहीं था, तब चारों दिनों का निर्धारण कैसे हुआ? बनाने वाला वह यहोवा परमेश्वर मूर्तिमान था कि निराकार-शून्य था। यदि निराकार रहा होगा, तो कुछ नहीं बना सका होगा और यदि मूर्तिमान रहा होगा, तो भी एकदेशी होने से सब कुछ न बना सका होगा।

'छठे दिन अपने स्वरूप के अनुसार मनुष्य को बनाया' कहते हैं। इससे यही सिद्ध होता है कि बाइबिल का परमेश्वर मनुष्य के समान एक व्यक्ति था। छः दिन में बाइबिल के ईश्वर ने सब सृष्टि रची। इनसे जल्दबाज तो कुरान का ईश्वर (खुदा) था। जो कि जबान से कह दिया कि हो जा! बस धड़ाधड़ सारा संसार उत्पन्न हो गया। 'सातवें दिन ईश्वर ने विश्राम लिया।' इसका तात्पर्य छः दिन तक लगातार सृष्टि बनाते-बनाते ईश्वर थक गया रहा होगा? जो यहोवा परमेश्वर एक मनुष्य के समान था, उसने छः दिन में पृथ्वी, समुद्र, सूर्य, चन्द्र, तारागण, मनुष्य, पशु– सब कुछ बना दिया। क्या आश्चर्य है? यह भी नहीं बताते कि अमुक पदार्थ, प्रकृति लेकर बनाया। बस केवल उसने सब कुछ बना दिया। परन्तु बनाने वाले यहोवा-परमेश्वर का ही कोई पता-लता नहीं है। अतएव सृष्टि-

उत्पत्ति विषयक यह मत असम्भव दोष-युक्त होने से सर्वथा अयुक्त है।

२६. पूर्वपक्ष—सृष्टि-उत्पत्ति के प्रथम दिन यहोवा-परमेश्वर ने मिट्टी से आदम (मनुष्य) को बनाया और जीवन का श्वास उसके नथनों में फूँक दिया और आदम जीवित प्राणी हो गया। फिर पूर्व-ओर अदन देश में एक बाटिका लगाई। उस बाटिका के बीच में भले-बुरे ज्ञान का वृक्ष तथा जीवन का वृक्ष लगाया और नाना प्रकार के फलों के वृक्ष लगाये। फिर आदम को गहरी नींद में डालकर उसके शरीर से एक पसुली निकालकर उसीसे नारी बनाया। फिर आदम के जागने पर उस नारी को आदम के लिये उसे दिया एवं आदम और उस नारी को उस बाटिका में रहने को कहा और कहा कि इस बाटिका के सब वृक्षों का फल बेखटके खाना। परन्तु परमेश्वर ने बाटिका के बीच के लगे हुए भले-बुरे ज्ञान का वृक्ष और जीवन का वृक्ष, इन दोनों वृक्षों के फलों को खाने के लिये बिलकुल रोक दिया और कहा कि इसके फल को खाओगे तो मर जाओगे।

आदम और उसकी स्त्री दोनों नङ्गे रहते थे, क्योंकि उन्हें भले-बुरे का ज्ञान नहीं था। फिर उस बाटिका में रहने वाले एक धूर्त साँप ने आदम की स्त्री से कह दिया

कि जो वाटिका के बीच के वृक्ष का फल खाने से ईश्वर ने तेरे को रोका है, सो वह जानता है कि इस वृक्ष के फल खाने से तुम लोगों की आँखें खुल जायँगी और भले-बुरे का ज्ञान हो जायगा। अतः ईश्वर ने तुम लोगों को बहका दिया है। तुम लोग उस वृक्ष का फल खाओ, निश्चय ही न मरोगे और ज्ञानी हो जाओगे। फिर उस स्त्री ने और आदम ने भले-बुरे ज्ञान के वृक्ष के फल खाये, फिर तुरन्त ज्ञानी हो गये। इतने में ईश्वर दिन के चौथे पहर में, वाटिका में घूमने आया, तो उसके शब्द सुनकर आदम और उस स्त्री ने अंजीर के पत्तों को सीलकर लङ्गोट बनाकर पहन लिया। तब ईश्वर ने इनको देखकर जान गया कि भले-बुरे-ज्ञान के वृक्ष का फल ये लोग खा लिये हैं, तभी इनको ज्ञान हुआ है। फिर ईश्वर ने पूछा कि तुम लोगों ने वाटिका के बीच के वृक्ष का फल खा लिया है? फिर आदम की स्त्री ने सारी कथा कह सुनायी। तो ईश्वर ने साँप और स्त्री को श्राप दिया कि स्त्री के सन्तान (मनुष्य) से और साँप से वैर बँधेगा। साँप मनुष्य के पैर को काटेगा मनुष्य साँप के शिर को कुचलेगा और स्त्री के गर्भ की पीड़ा को मैं बढ़ाऊँगा। फिर आदम ने अपनी पत्नी का नाम हव्वा रखा। क्योंकि वही सबकी आदि माता हुई, (हव्वा कहते हैं 'जीवन' को।) फिर यहोवा परमेश्वर ने चाम का अँगरखा बनाकर आदम और हव्वा

को पहना दिया। फिर परमेश्वर ने सोचा कि भले-बुरे का ज्ञान पाकर मनुष्य हमारे समान हो गया। ऐसा न हो कि जीवन के वृक्ष का फल तोड़कर खाले और सदैव जीवित रहे। अतः ऐसा विचार कर ईश्वर ने उस वाटिका से आदम और हव्वा को बाहर निकाल दिया और कहा कि तुम लोग खेती करो और उस जीवन[1] के वृक्ष की रखवाली के लिये वृक्ष के चारों ओर घूमनेवाली ज्वाला-मय तलवार को नियुक्त कर दिया।

उत्तरपक्ष—आज सबके सामने यहोवा परमेश्वर केवल मिट्टी से मनुष्य को बनादे और श्वास को फूककर जिलादे, तो यह बात भले मान ली जा सकती है कि ईश्वर ने प्रथम मिट्टी से ही आदम को बनाया। अन्यथा नहीं मानी जा सकती। बाइबिल में जो यह लिखा है कि 'भले-बुरे ज्ञान के वृक्ष के फलों को खाने से ईश्वर ने आदम-हव्वा

(बाइबिल २, ३)

१—ज्ञान का वृक्ष या जीवन के वृक्ष से प्राणधारी अर्थात जीवधारी के प्रति संकेत होता है। क्योंकि ज्ञान का वृक्ष कहीं नहीं होता। अतएव पता चलता है कि बाइबिल का मुख्य उप-देश है कि अन्न, साग, वनस्पति आदि तो खाओ, परन्तु जीव-धारी को मारना और उनका मांस खाना त्याग करो। घोर हिंसकी और मांसाहारी ईशायी इस बात को नहीं समझते।

को रोका और कहा कि इसके फल खाओगे या छूओगे तो मर जाओगे।' यहाँ पर बाइबिल लेखक ने यह भी विचार नहीं किया कि ऐसा लिखनेसे यहोवा परमेश्वर कितना घोर मिथ्या-वादी ठहरता है। क्या ईश्वर ऐसा मिथ्यावादी हो सकता है कि जिसका फल खाने से ज्ञान हो, उसको कहे कि खाने, छूने से मर जाओगे? आदम की पसली को निकाल कर यदि हव्वा को बनाया, तो मनुष्य की एक पसली आज भी क्यों नहीं कम होती?

भले-बुरे-ज्ञान के वृक्ष के फल खाने से जब आदम-हव्वा ज्ञानी हो गये और अपना तन ढँक लिये, तो ईश्वर ने यह देखकर उसे शाप क्यों दिया? क्या मनुष्य के प्रति ईश्वर को कोई ईर्ष्या थी? 'ज्ञान के फल खाकर मनुष्य मेरे समान हो गया, ऐसा न हो वह जीवन के फल खाकर अमर हो जाय।' ऐसा जो ईश्वर ने कहा, इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि ईश्वर मनुष्य को मूर्ख बनाये रखना चाहता था और इस वर्णन से ईश्वर एक अल्पज्ञ, जङ्गली मनुष्य वत् सिद्ध होता है। ईश्वर को वस्त्र नहीं मिलता था, तभी तो चाम के अँगरखे को बनाकर आदम-हव्वा को पहनाया?

३०. पूर्वपक्ष—मनुष्यकी सृष्टि जब बढ़ गयी, खूब अत्याचार होने लगा, तब यहोवा परमेश्वर पृथ्वी पर मनुष्य की सृष्टि करने से बहुत पछताया और दुखी हुआ। तब यहोवा ने सोचा कि अब पृथ्वी पर से मनुष्य को मिटा

दूँगा और सब जीव जन्तुओं को भी मिटा दूँगा। क्योंकि मैं इन सबको बनाकर पछताता हूँ। फिर यहोवा ने 'नूह' को बुलाया जो धर्मात्मा था और उससे कहा कि गोपरे नामक वृक्ष की लकड़ी का एक जहाज बनाओ, जो तीन सौ हाथ लम्बा, पचास हाथ चौड़ा और तीस हाथ ऊँचा हो। फिर नूह ने जहाज बनवाया और यहोवा ने कहा कि सब जाति के प्राणियों के एक-एक नर एक-एक मादी इस जहाज में रख लो और अपने पुत्र, स्त्री एवं बहुओं के समेत इस जहाज में बैठ जाओ, फिर मैं प्रलय का जल बर्षाऊँगा और सारे संसार के प्राणी नष्ट हो जायँगे। केवल जहाज पर रहे हुए प्राणी बचेंगे।

यहोवा के आज्ञानुसार नूह ने जहाज बनवाकर सब जाति के नर-मादा दो-दो प्राणियों को और अपने कुटुम्ब को लेकर जहाज में बैठ गया। फिर ईश्वर की प्रेरणा से समुद्र के सब सोते फूटे और आकाश के सब झरोखे खुल गये। और चालीस दिन तथा चालीस रात निरंतर वर्षा होती रही। ग्राम, शहर और बड़े-बड़े पर्वत सब डूब गये तथा पृथ्वी पर के समस्त प्राणी मर-मिट गये। जल की बाढ़ पर जहाज तैरता रहा तथा जहाज में रहे हुए प्राणी और नूह तथा नूह के बाल-बच्चे बच गये। इस प्रकार एक सौ पचास दिन जल प्रबल रहा।

फिर समुद्र के सोते और आकाश के झरोखे बन्द हुए

और जल घटते-घटते कुछ दिनों में पृथ्वी सूख गयी। फिर जहाज से सब प्राणी निकाले गये और नूह ने अपने कुटुम्ब के सहित निकल कर यहोवा के लिये एक वेदी बनाई और यहोवा के लिये कुछ प्राणियों का होम बलि[१] चढ़ायी। तब उस सुखदायी सुगन्ध को सूँघकर यहोवा परमेश्वर ने कहा कि अब मैं ऐसा जल-प्रलय करके भविष्य में कभी प्राणियों को न मारूँगा, जैसा कि अब मारा है। यद्यपि मनुष्य में बुराई बहुत अधिक होती है, तो भी इस प्रकार अब जल-प्रलय करके कभी प्राणियों को न मारूँगा, यह मैं मनुष्य से वाचा बांधता हूँ। अब जब जल वर्षाने के लिये बादल बढ़ाऊँगा, तब आकाश में धनुष उगाऊँगा, वही हमारे वाचा का चिन्ह होगा। उस धनुष को देखकर मुझे स्मरण रहेगा कि ऐसी वर्षा नहीं करनी चाहिये कि जिससे प्राणियों का प्रलय हो। फिर यहोवा परमेश्वर ने नूह और उनके पुत्रों को आशीष दी कि बहुत से बच्चे जन्माकर पृथ्वी में भर जाओ। फिर नूह के शेम, हाम और येपेथ इन तीनों पुत्रों की वंशावली से सारी पृथ्वी भर गयी।

(बाइबिल ६, ७, ८, ९)

१—तात्पर्य यह कि ईश्वर के नाम पर पशु को काटकर होम किया।

उत्तरपक्ष—'मनुष्य की सृष्टि बढ़ने पर अत्याचार बढ़ा और यहोवा परमेश्वर ने सृष्टि-रचने से पछताया।' भला! जब ईश्वर को लोग समर्थशाली कहते हैं, फिर उसके कानून को तोड़कर मनुष्य कैसे अत्याचारी हुए? यहोवा के विषय में परिणामज्ञान-हीनता का आक्षेप आता है, जो बिना विचारे सृष्टि किया और पुनः पछताया। क्या यही उसकी सर्वज्ञता है कि इतना न जान सका कि जो मैं सृष्टि रचता हूँ, अत्याचारी होगी? जब वह सर्व समर्थ था, तब अत्याचारी मनुष्यों को मारा क्यों, क्यों न सबके मन में भलाई की प्रेरणा करके सबको भला बना दिया? भला! तीन सौ हाथ लम्बा और पचास हाथ चौड़ा जहाज में संसार के सारे प्राणियों में से दो दो प्राणी और नूह के सब कुटुम्ब कैसे रहे होंगे? जबकि मछली आदि एक-एक प्राणी बहुत लम्बे-लम्बे होते हैं। और जगत में कई लाख प्रकार के प्राणी हैं। सारी सृष्टि बनाने के लिये तो यहोवा को केवल छः दिन लगे, परन्तु केवल प्राणी मात्र को नष्ट करने के लिये चालीस दिन जल बर्षाना पड़ा। यह भी अयुक्त कथन है।

'प्राणी को मारकर नूह ने जब यहोवा को होमबलि चढ़ाया, तब यहोवा होम-बलि की सुगन्धी को सूँघकर सुखदायी माना और प्रसन्न हुआ।' भला बताओ! इस

प्रकार जीव-हत्या को प्रिय मानने वाला, पशुओं के जले मांस की दुर्गन्धी को सूँघकर आनन्द मानने वाला यहोवा सबका मालिक परमेश्वर रहा या एक हिंसकी-मांसाहारी जंगली मनुष्य रहा ? जो ईश्वर जीव-हिंसा और मांसाहार सिद्ध करता हो, उसको दूर ही से नमस्कार करके अलग हो जाना चाहिये। मनुष्य से होमबलि पाकर यहोवा प्रसन्न हुआ और फिर पछताया कि जैसे अब मैंने जल-प्रलय करके प्राणियों को मारा है,वैसे भविष्य में कभी न मारूँगा यह वारम्बार पछताना और मनुष्य से होमबलि आदि रूप घूस पाकर प्रसन्न हो जाना और वाचा बाँधना कि मैं इस प्रकार कभी न करूँगा, सब अल्पज्ञता के लक्षण हैं।

इधर बाइबिल १२ पृष्ठ उत्पत्ति-प्रकरण में तो यहोवा ने वाचा बाँधा कि अब मैं ऐसा जल-प्रलय करके प्राणियों को कभी न मारूँगा और उधर बाइबिल १३१५ पृष्ठ सपन्याह के प्रकरण में लिखा है कि यहोवा परमेश्वर कोप करके कहता है कि 'मैं धरती के ऊपर से सबका अन्त कर दूँगा, यहोवा की यही वाणी है। मैं मनुष्य और पशु दोनों का अन्त कर दूँगा। आकाश के पक्षी और समुद्र की मछलियों का भी अन्त कर दूँगा।" इत्यादि। इस प्रकार बड़े कोप के साथ बड़ी लम्बी-चौड़ी व्याख्या में सबको नाश करने को कहा। यहोवा को अपनी वाचा का भी स्मरण न रहा। अपनी वाचा के स्मरण का चिन्ह यहोवा ने

आकाश के बादल में धनुष रखा था। उस समय सम्भवतः धनुष न उगा रहा होगा। इसी से वाचा का स्मरण न हुआ होगा। इन सब बातों से स्पष्ट हो जाता है कि यहोवा अल्पज्ञ था। 'यहोवा ने नूह और नूह के लड़के शेम, हाम और येपेथ को आशीष दिया और उसी की वंशावली से सारी पृथ्वी भर गई।' यह मानना सर्वथा व्यर्थ है। पृथ्वी तो सदैव न्यूनाधिक सृष्टि से पूर्ण है।

बाइबिल के मत से नूह और शेम, हाम तथा येपेथ की वंशावली से पृथ्वी भर गयी। भागवतादि पुराणों के मत से मनु एवं कश्यप की वंशावली से पृथ्वी भर गयी। विकासवादियों के मत से अमीबा या बन्दरों की वंशावली से पृथ्वी भर गयी। इसी प्रकार नाना मत हैं। जो परस्पर विरोधी होने से सब अमान्य हैं।

कुरानखंड

३१. पूर्वपक्ष—'जब वह किसी काम का करना ठान लेता है, तो बस उसे फर्मा देता है कि हो (कुन्) और वह हो जाता है।'

(कुरान, पारा २ सूरे २ रकू ५ आयत ४७)

'अल्लाह वह है जिसने आसमान को बिना किसी सहारे के ऊँचा बना खड़ा किया (जैसा कि) तुम देख रहे हो, फिर तख्त पर जा विराजा और चाँद-सूरज को काम में लगाया। वह है जिसने जमीन को फैलाया और उसमें पहाड़ और नदी बना दी।

(कुरान, पारा १३ सूरे १३ रकू १ आयत २-३)

'और उसीने जमीन में पहाड़ बनाये और उसमें बरकत दी और उसी ने माँगने वालों के लिये चार दिनों में खूराकें ठहरा दीं। फिर आसमान की तरफ सीधा हो गया और वह धूँआ था। जमीन और आसमान दोनों से कहा कि तुम दोनों खुशी से आये या लाचारी से ? दोनों ने कहा हम खुशी से आये। इसके बाद दो दिन में उस (धूयें) से सात आसमान बनाये और हर एक आस-

मान में अपना हुक्म उतारा और पहले आसमान को हमने तारोंसे सजाया और हिफाजत रखी। यह जोरावर कुदरत वाले से सधा है।'

'सो आद [1] (के लोगों) ने वृथा घमण्ड किया और बोले बलबूते में हम से बढ़कर कौन है? क्या उनको इतना न सूझा कि जिस अल्लाह ने उसको पैदा किया वह बल-बूते में उससे कहीं बढ़-चढ़कर है। गरज वह लोग हमारी आयतों (कुरान के मन्त्रों) से इन्कार ही करते रहे। तो हमने उनके ऊपर बड़ी जोर की आँधी चलायी ताकि दुनिया की जिन्दगी में उनको सजा की मजा चखायें और आखिरत की सजा में तो पूरी ख्वारी है और उनको मयद न मिलेगी।'

(कुरान, पारा २४ सूरे ४१ रकू २ आयत १०, ११, १२,१५,१६)

'और मैंने जिन्नों और आदमियों को इसी मतलब से पैदा किया है कि हमारी पूजा करें। मैं उनसे रोजी नहीं चाहता और न यह चाहता हूँ कि मुझे खाना खिलावें।'

(कुरान, पारा २७ सूरे ५१ रकू ३ आयत ५६-५७)

उत्तरपक्ष—कुरान का खुदा 'कुन्' अर्थात् 'हो' कह

१—'आद' अरब-देश की एक प्राचीन जाति है, जो मुहम्मद साहब के विरुद्ध थी।

देता है और हो जाता है उसे उपादान कारण की भी आवश्यकता नहीं पड़ती। प्रश्न यह है कि उसकी आज्ञा को कौन सुनता है? उनके मत से खुदा के अतिरिक्त पहले अन्य कोई तो था ही नहीं। यदि जड़-चेतन पहले मान भी लें, तो जड़ क्या सुन सकता है? शरीर-रहित चेतन भी उसकी आज्ञा नहीं सुन सकता!

आसमान (आकाश) तो कोई वस्तु नहीं, उसको कोई क्या बनायेगा? आकाश तो शून्य को कहते हैं। आकाश में जो नीलिमा दिखती है, पृथ्वी आदि तत्त्वों के रज-कण हैं। दुनिया बनाकर खुदा तख्त पर जा विराजा। इसका तात्पर्य यह है कि खुदा कोई मनुष्य-सा शरीर-धारी है और वह दुनिया बनाकर पीछे तख्ते पर बैठकर थकावट मिटाने लगा।

जमीन-आसमान से खुदा के पूछने पर वे बताये कि हम खुशी से आये। क्या जड़ जमीन-आसमान भी कुछ जान या बोल सकते हैं? धूँआ से आसमान का बनाना कहना, यह भी भ्रमपूर्ण है। धूँआ जल का रूपान्तर है और आसमान शून्य है।

कुरान की बातों को जो खुदाई नहीं मानता, उनपर यह खुदा का विचित्र प्रकोप है। जिन्नों और आदमियों को अपने को पुजवाने के लिये खुदा पैदा किया। सारे

संसार को दुःख में डालकर अपने पुजवाने की साध पूरी करना—सृष्टि बनाने में यह है खुदा का स्वार्थ !

कुरान का खुदा बड़ा विचित्र है। कुछ उदाहरण नीचे देते हैं—

'खुदा जिसे चाहे भटका दे, जिसे चाहे सीधे रास्ते पर लगा दे।'

(सूरे ६ आयत ३९)

'इसी तरह हम (खुदा) ने हर बस्ती में बड़े-बड़े अपराधी पैदा किये ताकि वहाँ फँसाद करते रहें।'

(सूरे ६ आ० १२३)

'अगर तुम्हारा खुदा चाहता तो सबका एक ही मत कर देता।'

(सू० ११ आ० १२८)

'हमको जब किसी गाँव को मार डालना मंजूर होता है, हम उसके खुशहाल लोगों को आज्ञा देते हैं। फिर वह उसमें बेहुक्मी (अन्याय) करते हैं, तब उन पर यह सजा साबित हो जाती है। फिर हम उस बस्ती को मार कर तबाह कर देते हैं।'

(सू० १७ आ० १६)

'फिर जब उन लोगों ने हम (खुदा) को गुस्सा

दिलाया, हमने उनसे बदला लिया, फिर उन सबको डुबो दिया।'

(सू० ४३ आ० ५५)

जब खुदा ही भटकाता है, तब मनुष्य का क्या दोष है? अपराधी को पैदा करके उनके-द्वारा फँसाद करवाना यही ईश्वरत्व एवं दयालुता है? खुदा को जब क्रोध आता है और वह लोगों को अन्यायी बनाकर, फिर उसके दण्ड-स्वरूप डुबाता या तबाह करता है। फिर वह दयालु, परवरदिगार (पालक) एवं न्यायी कहाँ रहा?

कुरान[1] भर में खुदा के लिये सर्वशक्तिमानता की दोहाई खींची गयी है। परन्तु जीव से पृथक् यदि कहीं सर्वशक्तिमान् ईश्वर-खुदा हो, तो वह सबका एक मत करके सबमें क्यों नहीं मैत्री करा देता? इसके विषय में विस्तृत विचार आगे होगा।

संसार में जैसे दो-चार बच्चे उत्पन्न करके और उन्हीं के राग-द्वेष में फँसा हुआ मनुष्य विकल रहता है। इससे भी अधिक आपत्ति सृष्टि-बनाकर खुदा या ईश्वर को हो

१--यहां केवल जगत-उत्पत्ति की निस्सारता दिखलाने के लिये ही कुछ आलोचनायें की गयीं हैं। यों वेद, बाईबिल, कुरान आदि में अच्छी बातें भी बहुत हैं। परन्तु उसे दिखाने का यहाँ प्रसंग नहीं है।

गयी है। सारे संसार में विरोध, हिंसा, घृणा एवं पापाचरण व्याप्त है। ईश्वर बेचारा कुछ भी सुधार नहीं कर पाता।

"बड़े घर की चिंता में ईश्वर फँसे हैं।
छोटे-से घर सोच जिव को ग्रसे हैं॥
जिव हैं अनन्तों कोई मोक्ष होंगे।
बुरा कर्म छोड़ो कभी न फँसोगे॥
ईश्वर कहाँ छूट सकता रे भाई।
स्वभाविक जगतकर्ता ईश्वर बताई॥"
(निर्मल सत्यज्ञान प्रभाकर)

विकासवाद खंड

३२. पूर्वपच—पृथ्वी की रचना कैसे हुई, यह कोई भी व्यक्ति ठीक तरह से नहीं जानता। परन्तु विज्ञान का विश्वास है कि पहले सौर-जगत के रिक्त स्थल में केवल जलती हुई गैसों के कल्पनातीत टुकड़े रहे होंगे। धीरे-धीरे इनसे ही पृथ्वी की रचना हुई होगी। आज भी एक शक्ति-शाली दूर-दर्शक यन्त्र से देखने पर ज्ञात होता है कि रिक्त स्थलों में यहाँ से करोड़ों मील दूर इस प्रकार के जलती हुई गैसों के भाग हैं। इनके विषय में यह विश्वास किया जाता है कि आने वाले कुछ लाख या करोड़ वर्षों में ये सब हमारी पृथ्वी जैसे ग्रह अथवा तारे बन जायँगे। पहले पृथ्वी बहुत गर्म रही होगी, जैसा कि आज-कल सूर्य है और समय आने पर सम्भवतः चन्द्रमा-जैसी ठण्डी भी हो जाय।

उत्तरपक्ष—'पृथ्वी की रचना कैसे हुई' यह कोई भी जब ठीक तरह से नहीं जानता, तब उसकी व्यर्थ कल्पना क्यों की जाती है? उसे अनादि मानने में क्या आपत्ति

है ? विज्ञान का विश्वास है कि पहले सूर्य के पास जलते आग के टुकड़े रहे होंगे और उसी से पृथ्वी बनी होगी।' यह कितना सन्देह पूर्ण वचन है ? विज्ञान तो उसी बात को अपना सिद्धान्त मानता है, जिसको प्रयोग-द्वारा प्रत्यक्ष कर लेता है। उसके कोश में (विश्वास) शब्द ही नहीं है। फिर इस महा मिथ्यापूर्ण कल्पना में उसका विश्वास कैसे हुआ ? सूर्य से पृथ्वी की रचना मानना, जो युक्ति-प्रमाण से सर्वथा असिद्ध है, उस पर तो उसने विश्वास कर लिया और अविनाशी जीवों के पुनर्जन्म, कर्मफल-भोग तथा ज्ञान-वैराग्यादि से मोक्ष (शान्ति की प्राप्ति) आदि, जो युक्ति-प्रमाण से सर्वथा सिद्ध बात हैं और जिनसे मनुष्य की परम उन्नति है, उनको उसने कुछ भी न माना। सूर्यसे पृथ्वीकी रचना रूपी जब मिथ्या बात पर विश्वास किया जाता है, तब अविनाशी जीवों के कर्म-फल-भोग, पुनर्जन्म एवं बन्ध-मोक्ष रूप सत्य बात पर क्यों नहीं विश्वास किया जाता ? 'सूर्य से पृथ्वी बनी होगी, पहले आग का गोला रही होगी, सम्भवतः लाख करोड़ वर्ष में चन्द्रमा-जैसी हो जाय।' यह सब कितना सन्देहपूर्ण दुर्बल सिद्धांत है।

जब पहले पृथ्वी आग का गोला थी, तब बिना जल-वायु के बुझी कैसे ? प्रथम तो जल-वायु थे नहीं। पुनः जब आग का गोला बुझ गया, तब पृथ्वी किसकी बनी, बुझने के पश्चात् तो आग निकल गयी। यदि

कहिये 'जैसे आग बुझने पर राख रह जाती है, वैसे गैस का टुकड़ा बुझने पर पृथ्वी रह गयी।' तो यह मानना उचित नहीं। क्योंकि पृथ्वी के अंश रूप लकड़ी-कण्डे को जलाने पर आग का अंश उड़ जाने के पश्चात् राख रूप से पृथ्वी का अंश रह जाता है। परन्तु सूर्य के टुकड़े में तो पृथ्वी आदि कोई तत्त्व न थे, उसे तो केवल गैस का पुञ्ज बतलाते हैं, फिर गैस का पुञ्ज बुझने पर क्या रहेगा? यदि उस गैस-पुञ्ज में पृथ्वी भी माने, तब सूर्य के टुकड़े से पृथ्वी बनी कहना व्यर्थ है।

हम देखते हैं नदियाँ समुद्र की ओर निरन्तर जाती हैं, कोई ढेला फेंकिये, वह पृथ्वी पर पुनः लौट आता है। आग को जलाइये, वह ऊपर को उड़ेगी। इस प्रकार सब कार्य पदार्थ अपने कारण-समूह में आकर्षित होते रहते हैं। इसका यह सारांश निकला कि पृथ्वी-सूर्यादि अपने-अपने स्थान पर अपनी-अपनी धारणाकर्षण-शक्तियों से स्थिति हैं। फिर सूर्य से कुछ अंश टूटकर सर्वथा पृथक् कैसे हो गया? सूर्य के टूटने का कारण कौन था? वह कारण अनादि था कि आदि, यदि अनादि था तो आज तक उस कारण से सूर्य टूटते-टूटते उसका अन्त हो जाना चाहिये था। यदि कारण आदि था, तो उस कारण का भी अन्य कौन कारण था?

जब सूर्य से कुछ अंश टूटकर पृथक् होने लगा, तब

सूर्य ने अपने आकर्षण से उसे खींचकर अपने में चिपका क्यों नहीं लिया ? वास्तव में सूर्य के टूटने का कोई पुष्ट प्रमाण नहीं है।

३३. पूर्वपक्ष—संसार का मूलकारण 'ईथर' है। इसी में अज्ञात कारण से कभी क्रिया हुई और उसमें विद्युत-गरमी-प्रकाश एवं शब्दादि उत्पन्न हुए। ईथर में इतने वेग से क्रिया हुई कि उसमें उनके विभाग होगये और चक्राकार दशा को धारण करके एवं अत्यन्त घनीभूत जम गये। उन प्रत्येक टुकड़ियों को नीहारिका कहते हैं। पुनः उन नीहारिकाओं में से किसी नीहारिका से टूटकर सूर्य आदिक ग्रह बने और उस सूर्य से ही हमारी पृथ्वी अलग हुई।

उत्तरपक्ष— ईथर में क्रिया क्यों हुई ? इसका कारण बतलाना पड़ेगा। ईथर के अतिरिक्त जब अन्य पदार्थ ही नहीं था, तब उसमें क्रिया कैसे हुई ? जिस समय क्रिया होना मानते हैं, उसके पहले क्यों नहीं हो गयी थी ? यदि ईथर में क्रिया स्वभाव सिद्ध है, तो सदैव क्रिया होती रहनी चाहिये थी यदि उसमें स्वभाव सिद्ध क्रिया नहीं है; तो अमुक काल में क्रिया होने का कारण बतलाना पड़ेगा।

एक ही तत्त्व से कोई कार्य नहीं होता। जैसे केवल मिट्टी या केवल जल से कोई भी कार्य पदार्थ नहीं बन सकता। परस्पर विरोधी तत्त्व होने से ही आकर्षण-विक-

र्षण होकर कार्य बनते हैं। अतः केवल 'ईथर' नामक सूक्ष्म द्रव्य से शब्द, प्रकाश विद्युत् आदि का बनना और पुनः सूर्य आदि का जमजाना मानना केवल कल्पना की उड़ान है।

अग्निमय सूर्य से पृथ्वी, जल, वायु आदि विरोधी गुण-धर्म वाले तत्त्वों का निर्माण तथा विविध विचित्र जगत की उत्पत्ति मानना न्याय संगत नहीं।

पहली बात तो यह है कि पूर्वपक्षी के पास इसका उत्तर नहीं है कि सर्वप्रथम 'ईथर' में क्रिया क्यों हुई ?

३४. **पूर्वपक्ष**—सम्भवतः प्रारम्भ में सर्वत्र एक ही गैस फैली रही होगी। यही मूल पदार्थ रही होगी। इस गैस में अज्ञात कारण से हलचल उत्पन्न हुई होगी। फिर गैस कहीं क्षीण, कहीं घन होकर कई टुकड़ियों में विभक्त हो गयी होगी। ये टुकड़ियाँ ही नीहारिकायें हैं। अर्थात् प्रत्येक टुकड़ी एक नीहारिका बन गयी होगी। इस प्रकार जो नीहारिकायें बनीं होंगी, तेजी से अपने अक्ष (धुरी) पर परिभ्रमण करते-करते उनमें से प्रत्येक की आकृति सिमिट कर क्रमशः नारंगी की भाँति हो गयी होगी।

वही गुरुत्वाकर्षण से सिमट कर क्रमशः अधिक छोटी, चिपटी और तप्त हो गयी होगी और अधिक वेग से नाचने लगी होगी जिससे उसके मध्य-भाग से पदार्थ छिट-

कने भी लगे होंगे। इस प्रकार सिमटने पर नीहारिका का केन्द्र बहुत छोटा हो गया होगा और उससे छिटका हुआ पदार्थ बहुत दूर तक फैल गया होगा। वही नीहारिका अक्ष से देखने पर, ऐसी दिखाई देने लगी। छिटके पदार्थों ने दो सर्पिलों का रूप धारण कर लिया और वह कहीं-कहीं सिमटने लगा होगा जिससे नवीन तारे बन गये होंगे।

अब प्रश्न यह उठता है कि जब तारों ने (या कहिये सूर्यों ने) जन्म लिया तो क्या वे भी सिमटने लगे और उनसे भी पदार्थ छिटकने लगा ? गणित उत्तर देता है कि नहीं। नीहारिका इतनी बड़ी थी कि उससे पदार्थ छिटक सकता था। परन्तु ये सूर्य अपेक्षाकृत इतनेछोटे हैं कि उनके पृष्ठ पर के पदार्थ को गुरुत्वाकर्षण खींचे रहेगा। वह पदार्थ छिटक कर अलग न हो सकेगा इसलिये हमारी पृथ्वी की उत्पत्ति किसी दूसरे प्रकार से हुई होगी।

(विश्व की कहानी, आकाश की बातें पृष्ठ ३०१८ या ३०२०)

लेकिन ग्रह-उपग्रह कैसे बने ? सबसे पहले फ्रांसीसी वैज्ञानिक 'लाप्लास' ने इस प्रश्न का उत्तर दिया। उसने कहा कि सूर्य अपनी धुरी पर तेजी से घूम रहा था। ज्यों-ज्यों वह घूमता गया। त्यों-त्यों उसमेंसे हिस्से टूट-टूटकर निकलने लगे। ये टूटे हिस्से भी गोलाकार बनकर सूर्य की परिक्रमा करने लगे। इस प्रकार सूर्य से ग्रहों तथा उपग्रहों

की रचना हुई। पहले यह सिद्धान्त सबको ठीक जँचता था। परन्तु अब इस पर सन्देह किया जाता है। सन्देह का कारण यह है कि सभी ग्रह-उपग्रहों के घूमने की दिशा एक-सी नहीं है।

वैज्ञानिक 'विझकेर' ने एक नया सिद्धांत बताया, उसने कहा कि सूर्य जब आकाश-गंगा में से निकला, तो वह बहुत फैला हुआ था। उसका भीतरी भाग ठण्डा था। बाद में बाहरी भाग में कई भँवरे पड़ीं। भँवरें घूम रहीं थीं। इसका परिणाम यह हुआ कि सूर्य के बाहरी भाग से उनकी रगड़ होने लगी। इस रगड़ के कारण वे भँवरे पृथक् हो गयीं और उन्होंने ग्रहों तथा उपग्रहों का रूप ले लिया।

इस सिद्धांत के बारे में भी सन्देह है। वैज्ञानिक अभी तक ब्रह्माण्ड और सौर-मण्डल बनने का सही कारण नहीं जानते।

(दुनिया की दुनिया पृष्ठ १५-१६)

उत्तरपक्ष--पूर्वपक्ष ही में विकासवादी जन अपने सिद्धांत पर सन्देह प्रकट कर चुके हैं। अतः यहाँ आलोचना करना निष्प्रयोजन है।

३५. पूर्वपक्ष—कभी एक समय ऐसा रहा होगा कि पृथ्वी, चन्द्रादि न रहे होंगे। फिर सूर्य से टूट कर पृथ्वी

बनी और पृथ्वी से टूटकर चन्द्र बना। अरबों वर्ष पहले हमारी पृथ्वी भी सूरज की तरह दहकता हुआ गोला थी। उस समय जीव-जन्तु, पेड़-पौधे, हवा-पानी कुछ नहीं थे। फिर पृथ्वी की गर्मी कम हुई। उसका बाहरी भाग ठण्ढा होकर पपड़ी की तरह जम गया और इस तरह जमीन बन गयी हवा और पानी की सृष्टि हुई और पेड़-पौधे तथा जीव-जन्तु उत्पन्न हुए।

उत्तरपक्ष—'कभी ऐसा भी समय रहा होगा कि पृथ्वी चन्द्रादि न रहे होंगे।' यह कहना बिलकुल निराधार, कल्पित एवं भ्रम है। यदि कोई विवादी कहे कि चन्द्र ही सबका पूर्वज है। प्रथम चन्द्र से टूट कर पृथ्वी बनी और पृथ्वी से टूटकर सूर्य बना। तो पूर्वपक्षी इसका क्या उत्तर देंगे? यदि कहिये शीतल चन्द्र से पृथ्वी और अन्धकारमय पृथ्वी से अग्निमय सूर्य नहीं बन सकता, परन्तु सूर्य से पृथ्वी हो सकती है। क्योंकि सूर्यका तेज पृथ्वी में विद्यमान है, जैसे ज्वालामुखी पर्वतादि। तो सुनिये! इसी प्रकार अग्निमय सूर्य से अन्धकारमय पृथ्वी भी नहीं बन सकती। सूर्य का गरमी-अंश ज्वालामुखी पर्वत यदि पृथ्वी में स्थित है, तो शीतल चन्द्र के शीतल गुणवाले हिमालय, समुद्र और पृथ्वी के भीतर रहे हुए अनन्त जल-स्रोत भी विद्यमान हैं। फिर पृथ्वी सूर्य से

हुई या चन्द्र से हुई यह विवाद युक्त है १।

वास्तविक बात तो यह है कि न पृथ्वी सूर्य से हुई न चन्द्र से, और न पृथ्वी से सूर्य हुआ और न चन्द्र हुआ। यह सब बातें कल्पित हैं। सूर्य चन्द्रमा, पृथ्वी, नक्षत्रादि सब पदार्थ अनादि हैं। इनकी उत्पत्ति कभी हुई ही नहीं।

जब पहले हवा-पानी नहीं थे, यह पृथ्वी केवल आग का गोला मात्र थी। तब वह आग जल-वायु के बिना बुझी कैसे? कहते हैं कि "सूर्य से टूटा हुआ अग्नि-पिण्ड जब बहुत दिनों में कुछ ठण्ढा हुआ तब उसमें से वाष्प (भाफ) उड़ा और बादल बना तथा बादल से वृष्टि हुई और सर्वत्र जल भर गया। पश्चात् जब जल सूख गया तब पृथ्वी फट गयी और जो भाग धँस गया उससे समुद्र का निर्माण हुआ; तथा जो भाग ऊपर को उठ गया, वह पर्वत हो गया।'

पूर्वपक्षी की उपर्युक्त बातें बिलकुल कल्पित हैं। जल में अग्नि-वायु के परमाणु मिलने पर वाष्प बनता है।

१—"रहस्य विद्या के अन्वेषी 'थियासोफी' सम्प्रदाय के कुछ सज्जनों का यह मत है कि पृथ्वी से चन्द्रमा नहीं, प्रत्युत चन्द्रमा के शरीर से पृथ्वी के शरीर की उत्पत्ति हुई है।"

(दर्शन का प्रयोजन २१३ पृष्ठ)

वाष्प मुख्य जल का कार्य रहता है। पहले जब वायु-जल थे ही नहीं, केवल आग ही थी, फिर वाष्प कैसे बना? जल से भरी पृथ्वी सूखकर चिटक जाने पर समुद्र एवं पर्वत का निर्माण हुआ, तो आज भी गीली पृथ्वी के चिटकने पर नये समुद्र तथा पर्वत बन जाने चाहिये। "आरम्भिक अवस्था में पृथ्वी के गर्म होने से, उसपर पानी भर जाने से तथा सूखकर और चिटक कर समुद्र-पर्वत बन सकते थे; आज नहीं बन सकते।" तो इसका क्या प्रमाण कि पृथ्वी पहले गर्म थी? समुद्र तो जल का कारण-समूह अनादि वस्तु है। उसका सर्वथा निर्माण मानना केवल भ्रम है। हाँ! कुछ परिवर्तन होते रहना दूसरी बात है।

समुद्र से वाष्प उड़कर बादल बनता है, पुनः वृष्टि होती है, तब पृथ्वी पर जल भरता है। विकासवादियों के मत से जब प्रथम पृथ्वी आग की गोला थी, उस पर समुद्र नहीं था, तब कहाँ से वाष्प उड़ा, कैसे बादल बना तथा वृष्टि हुई और जल कहाँ से आकर पृथ्वी पर भर गया कि जिससे जल सूख जाने पर पृथ्वी फटी और समुद्र बना। पुत्र से पिता की उत्पत्ति मानने के समान यह विकास-वादियों का मत सर्वथा भ्रान्तिपूर्ण है।

"आकाश से पृथ्वी पर उल्कायें गिरती रहती हैं। अतः पृथ्वी का वजन धीरे-धीरे बढ़ रहा है। वैज्ञानिकों ने

हिसाब लगाया है कि इन उल्काओं के कारण दश लाख वर्ष में पृथ्वी के प्रदक्षिणा-काल ($३६५\frac{१}{४}$ दिन) में $\frac{१}{१०००}$ सेकेण्ड की कमी हो जायगी। तात्पर्य यह कि आज से दश लाख वर्ष के पश्चात् पृथ्वी की वार्षिक क्रिया में एक सेकेण्ड का हजारवाँ हिस्सा कम हो जायगा।" विचार करना चाहिये कि दश लाख वर्ष इस बात को प्रत्यक्ष करने के लिये इन विज्ञानियों के मत का क्रम स्थिर रहना सम्भव है ? और एक सेकेण्ड के हजारवाँ हिस्सा का ठीक अनुमान लगाया जा सकेगा ?

३६. पूर्वपक्ष—लाखों वर्षों के पूर्व इस संसार में अत्यन्त छोटे-छोटे एक पेशी एवं कोष के असंख्य प्राणी थे। फिर परिस्थिति बदलने के कारण एवं हवा, पानी, प्रकाश, भोजन आदि के परिवर्तन से प्राणी बदलते गये। अतएव वे छोटे-छोटे जन्तु क्रमशः कीट, पक्षी, पशु तथा मनुष्य आदि के रूप में तैयार हो गये। मान लीजिये किसी प्राणी को लम्बे लम्बे पेड़ के पत्ते खाने पड़े, अतः वे अपनी गर्दन उठा-उठाकर पत्ते खाते-खाते उनकी कई पीढ़ियों में उन प्राणियों की गर्दनें लम्बी हो गयीं। वैज्ञानिकों की राय है कि अफरीका के घने जंगल में रहने वाले जिराफ प्राणी जिसकी गर्दन बहुत लम्बी होती है, उक्त कारण से ही उनकी गर्दन बढ़ गयी है। "प्रकृति के अनुसार बदलोगे तो जीवित रहोगे।" प्रकृति का यही महामन्त्र है।

उत्तरपक्ष—'लाखों वर्षों के पूर्व संसार में छोटे-छोटे ही प्राणी थे, बड़े प्राणी नहीं थे।' यह किस प्रमाण से मानते हैं? कुछ ही हजार वर्ष पहले के इतिहास टूटे-फुटे रूप में आज मिलते हैं। फिर लाख वर्ष के पूर्व की कल्पित बातों को आपने कैसे मान लिया ? जो प्रत्यक्ष सृष्टि-क्रम में नहीं है, उसको पहले हुआ था, ऐसा मानना सर्वथा अन्याय है। जब कहीं चींटे, मच्छड़ से हाथी-घोड़े एवं मनुष्य होते आप नहीं देखते, तब पहले के लिये बेढङ्गी कल्पना क्यों करते हैं ? "लम्बे-लम्बे पेड़ की पत्तियों को खाते-खाते कई पीढ़ियों में जिराफ नामक प्राणी की गर्दन लम्बी होगयी।" यह मानना महान अन्याय है। यदि गर्दन को उठा-उठाकर पत्ती खाने से एवं गर्दन से अधिक काम लेने से गर्दन का विकास हो गया, तो मनुष्य हाथ से रात-दिन कितना काम लेता है, फिर मनुष्य का हाथ बढ़कर मीलों लम्बा क्यों नहीं हो जाता ?

'प्रकृति के अनुसार बदलोगे तो जीवित रहोगे'--यह जो प्रकृति का महामन्त्र पूर्वपक्षी ने बतलाया है। उसे विचार करना चाहिये कि प्रकृति में कितना परिवर्तन होता है। प्रकृति परिवर्तनशील अवश्य है। परन्तु परिवर्तन की भी एक सीमा है। प्रकृति में परिवर्तन होकर वर्षा, शीत, धूप, दिन, रात आदि होते रहते हैं। परन्तु पृथ्वी

आकाश नहीं हो जाती। सूर्य मिट्टी का ढेला नहीं हो जाता। समुद्र पेड़ नहीं हो जाता।

३७. पूर्वपक्ष—प्रकृति में आरम्भ से ही सभी प्राणी अपने वर्तमान रूप में नहीं हैं। वर्तमान हाथियों का विकास सूअर के सदृश प्राणियों से लगभग साढ़े तीन करोड़ वर्ष पूर्व मिश्र देश में आरम्भ हुआ। इसी प्रकार वर्तमान घोड़ों का विकास कुत्तों के बराबर प्राणियों से हुआ। इसमें प्रत्येक अगली टाँग में चार और पिछली टाँग में तीन अँगुलियाँ थीं। इस प्राणी को 'इयोहिप्पस' कहते हैं और यह पाँच करोड़ वर्ष पूर्व मिलता था। पक्षी, मनुष्य तथा चमगादड़ के अगली टाँगों की रचना देखने से पता चलता है कि इन सबका विकास एक ही जैसे प्राणियों से हुआ है। क्योंकि इनकी हड्डियों में समानता है। प्रकृति-अनुसार पृथक्-पृथक् परिवर्तन हो गया है।

उत्तरपक्ष—'आरम्भ से ही प्राणी अपने रूप में नहीं हैं।' यह किस प्रमाण से मानते हैं? जगतका आरम्भ होते किसने देखा? कहाँ पर ठहर कर देखा? 'मिश्र में साढ़े तीन करोड़ वर्ष पूर्व सूअर जैसे प्राणियों से हाथियों का विकास हुआ।' यह कितनी असम्भव बात को सम्भव सिद्ध करने की बेढंगी कल्पना है। 'साढ़े तीन करोड़ वर्ष पूर्व सूअर जैसे प्राणी से हाथी हुए। पाँच करोड़ वर्ष पूर्व

कुत्ते जैसे प्राणी से घोड़े हुए।' तो अब क्यों नहीं होते ? क्या अब सूअर-कुत्तों जैसे प्राणियों को हाथी-घोड़े आदि होने में लज्जा लगती है ? प्रकृति को कौन सी अयोग्यता हो गयी, जिससे वे अपने विकासक्रम को रोक दिये ? या तो सूअर एवं कुत्ते जैसे प्राणियों से आज भी हाथी-घोड़े होने चाहिये या सूअर तथा कुत्ते जैसे प्राणियों का सर्वथा अन्त हो जाना चाहिये। जिन कुत्तों जैसे प्राणियों से घोड़ों का विकास हुआ, उन प्राणियों के टाँगों में जब तीन-तीन तथा चार-चार अँगुलियाँ थीं। तब आज घोड़ों में अँगुलियाँ क्यों नहीं होतीं ?

पक्षी, चमगादड़ और मनुष्य—इनकी टाँगों के आकार में कहीं एक अंग की थोड़ी सी समानता देखकर यह मान लेना कि ये तीनों किसी एक ही प्रकार के प्राणी से विकसित हुए हैं—महा अन्धेर है। मनुष्य, पशु एवं पक्षी—इन तीनों खानियों की उत्पत्ति बिना माता-पिता के नहीं होती। यही धारा अनादिकाल से चली आयी है और अनन्त काल तक रहेगी। उष्मज खानि के जीव जड़ तत्त्वों के आधार से शरीर धरते हैं, वह भी धारा पूर्व अनादि से है और भविष्य अनन्त काल तक रहेगी। किसी उष्मज प्राणी से जब पक्षी, मनुष्य एवं पशु आदि आज नहीं होते, तब प्रथम होने की कल्पना करना व्यर्थ है। पौराणिकों के शमान विकासवादियों का भी कथन बाल-

वचन के समान असम्भव दोषों से पूर्ण होने से त्यागने योग्य है।

३८. पूर्वपक्ष—छोटे-छोटे प्राणियों से बड़े-बड़े प्राणियों के विकास होने के विषय में लैमार्क तथा डारविन नामक वैज्ञानिकों ने पर्याप्त खोज की है और उद्विकास के तो अब अकाट्य प्रमाण हैं। सबसे प्रबल प्रमाण तो फौसिल्स का है। करोड़ों वर्ष पूर्व स्तरीभूत चट्टानों के बनते समय जो प्राणी इनकी तहों या स्तरों के बीच-बीच दबते गये, उनके कड़े भाग स्वयं चट्टानों में बदल गये और मुलायम अंगों के निशान चट्टानों में बन गये। इस प्रकार के निशानों को एवं काष्ठ तथा चट्टानों में बदले हुए भागों को फौसिल्स कहते हैं। इस प्रकार की चट्टानों को देखने से पता चलता है कि किस काल में किस प्रकार के जीव-जन्तु मिलते थे। इन्हीं फौसिल्सों के आधार पर घोड़ा, हाथी तथा चिड़ियों के उद्विकास के अकाट्य प्रमाण मिलते हैं।

उत्तरपक्ष—छोटे-छोटे प्राणियों से बड़े-बड़े प्राणियों के विकास के विषय में जो लैमार्क और डारविन ने अकाट्य प्रमाण फौसिल्स का दिये हैं, यह तो सर्वथा कट जाने वाला है। पृथ्वी के चट्टानों के तहों एवं स्तरों के बीच-बीच में किसी प्रकार के चिन्ह देखकर यह कल्पना करना कि

यह किसी प्राणी के किसी अंग का फौसिल्स अर्थात् चिन्ह है। यह प्राणी इस प्रकार रहा होगा और ऐसे प्राणियों से हाथी-घोड़े आदि हुए होंगे--महा मिथ्या मन गढ़न्त बाते हैं। किसी चट्टान के तहों में किसी प्राणी के कोई हाथ-पैर आदि अंग के दबे चिन्हों को देखकर यह कल्पना कर लेना कि ये दश-पाँच करोड़ वर्ष पूर्व के हैं--बिलकुल व्यर्थ बाद है। कहीं सौ-पचास या कुछ सौ वर्ष पूर्व भूचाल आदि किसी कारण से पृथ्वी के तहों में प्राणी दबकर सड़ गये होंगे। उन्हीं के चिन्ह को देखकर लैमार्क-डारविन आदि ने मान लिया होगा कि 'यह करोड़ों वर्ष पूर्व के हैं; और इन्हीं से सबकी उत्पत्ति हुई होगी।'

मान लीजिये! दश-पाँच करोड़ वर्ष पूर्व ही के किन्हीं सूअर-कुत्ते आदि प्राणी के अंगों के चिन्ह चट्टानों के तहों में देख गये हों, तो इसका तात्पर्य यह थोड़े है कि उन्हीं सूअर और कुत्ते से ही हाथी-घोड़े आदि हुए हैं। इसके अतिरिक्त गाय, भैंस; घोड़े आदि कई प्राणियों की हड्डियाँ किसी एक स्थान पर गाड़ दिया जाय, सौ-पचास वर्ष पर उसे खोदकर पुनः देखा जाय, तो प्रायः पता नहीं चलेगा कि कौन हड्डी का चिन्ह घोड़े का है और कौन बैल, भैंस के हैं। फिर दश-पाँच करोड़ वर्ष के चिन्हों की कल्पना कर लेना और उन्हीं से सब प्राणियों का विकास मानना असम्भव दोषयुक्त नहीं तो और क्या है? ऐसे

निर्मूल, महामिथ्या प्रमाण को अकाट्य-प्रमाण मानते हैं, मानव-मन की विचित्र लीला है ।

३९. पूर्वपक्ष—उद्विकास किस प्रकार हुआ ? इसे समझने का श्रेय लैमार्क तथा डारविन को है ।

लैमार्क का मत—केवल उन्हीं अङ्गों का परिवर्धन (विकास) होता है, जो इस्तेमाल होते रहते हैं । निरन्तर काम में लाने से उस अंग विशेष में जो परिवर्तन होता है, वह एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में पहुँचता रहता है और इस प्रकार लाखों वर्षों में एक नये प्रकार के प्राणी उत्पन्न हो जाते हैं । गर्दन उठा-उठाकर लम्बे पेड़ के पत्ते खाने से गदहे जैसे प्राणियों से जिराफ का विकास हुआ है । निरुपयोगी अवयव धीरे-धीरे लुप्त हो जाते हैं । मनुष्य की पूँछ इसी नियम से गायब होगयी है और समय पाकर हाथ-पाँव के नाखूनों को भी यही दशा होने वाली है ।

वैज्ञानिकों का मत है—मनुष्य यदि अपने हाथों का उपयोग न करे और हाथ को दो महीने तक किसी लकड़ी से बाँध रखे, तो उस अवधि में उसके स्नायु (नस) सूख जायँगे । इसी तरह किसी अवयव का यदि पीढ़ियों तक उपयोग न किया जाय, तो बहुत सम्भव है कि उसका भी लोप हो जाय ।

उत्तरपक्ष—लैमार्क का जो यह कहना है कि 'केवल उन्हीं अंगों का विकास होता है, जो निरन्तर इस्तेमाल होते हैं।' व्यर्थ बात है। नाखून और बाल का क्या विशेष इस्तेमाल होता है? फिर वे क्यों बढ़ते रहते हैं। जिस अंग से विशेष काम लिया जाय, उसका विकास ही होता रहे, ऐसी बात नहीं। सबसे अधिक हाथ से काम लिया जाता है। विकासवादी के मतानुसार जब से वे सृष्टि मानते हैं, आज तक मनुष्य की लाखों-करोड़ों पीढ़ियाँ बीत गयी होंगी। अतः आज तक मनुष्य के हाथों का विकास होते-होते मीलों लम्बे हो जाने चाहिये।

मनुष्य जीभ से बोलने का काम अधिक लेता है, अतः लैमार्क के मत से आज तक मनुष्य की जीभ कई हाथ की हो जानी चाहिये। बैल आदि जीभ से अधिक बोलने आदि का काम नहीं लेते। अतः उनकी जीभ आज तक नष्ट हो जानी चाहिये या बहुत छोटी हो जानी चाहिये। परन्तु मनुष्यों से बैलों की ही जीभ लम्बी देखी जाती है। चींटियाँ अपने पैरों से अधिक काम लेती हैं। प्रायः रात-दिन दौड़ा ही करती हैं। विकासवादी के सिद्धांत से चींटियों के पैर बढ़ते-बढ़ते आजतक मीलों ऊँचे हो जाने चाहिये। कम-से-कम ऊपर बादलों तक चींटियों की टाँगे अवश्य ही बढ़ जानी चाहिये।

सृष्टि के विषय में 'विकास' शब्द का प्रयोग करना ही व्यर्थ है। यदि प्राणी का निरन्तर विकास ही होता रहे, तो मनुष्यादि समस्त प्राणियों का निरन्तर विकास ही होता जाय। बढ़ते-बढ़ते मनुष्यादि प्राणी के शिर सूर्य-चन्द्रमा तक पहुँच जाँय, बल्कि वहाँ से भी ऊपर निकल जायँ। अतएव युक्ति-प्रमाण से यही सिद्ध होता है कि सृष्टि के विषय में 'विकास' शब्द का न प्रयोग करके 'परिवर्तन' शब्दका ही प्रयोग करना चाहिये। तात्पर्य यह है कि प्राणी के क्रियाशील अंगों का केवल विकास ही नहीं होता, बल्कि ह्रास भी होता है। केवल वृद्धि ही नहीं होती, बल्कि क्षय भी होता है। प्रत्यक्ष है, मनुष्यादि प्राणियों के शरीर कुछ दिन बढ़ते हैं, फिर उनका बढ़ना बन्द हो जाता है और पुनः उनके शरीरों का क्षय होने लगता है। अतएव क्रियाशील अंगों का केवल विकास ही होता है—यह सिद्धान्त सर्वथा भ्रान्तिपूर्ण है।

एक ने कहा—'आज कल मनुष्य अपने मस्तिष्क से सोचने का अधिक काम ले रहा है। अतएव कई पीढ़ियों के पश्चात् मनुष्य का मस्तिष्क अधिक बढ़ जायगा।' इस प्रकार इन लोगों को बे शिर-पैर की बातें उठती रहती हैं। आज के मनुष्य मस्तिष्क से सोचने का काम अधिक ले रहे हैं, तो क्या पहले के मनुष्य पैर से सोचते थे, वे मस्तिष्क से नहीं सोचते थे? क्या पहले बुद्धिमान

एवं ज्ञानी-विज्ञानी नहीं होते थे ? जितना आज कल जड़-विज्ञान का विकास है, इससे भी अधिक-अधिक विज्ञान-विकास के आविर्भाव एवं तिरोभाव अनन्तों बार इस पृथ्वीतल पर हो चुके हैं और आगे भी अनन्त काल तक होते रहेंगे। आज का जो जड़-विज्ञान-विकास है, यह भी किसी दिन इतना बढ़ा—चढ़ा न रहेगा। बहुत ज्ञान लुप्त हो जायँगे। परन्तु सर्वथा लुप्त न होगा और पुनः समय-योग्यता होने पर बढ़ जायगा।

जीवों के कर्मानुसार एवं राष्ट्रों में वैमनस्य बढ़कर जब-जब बड़े-बड़े महायुद्ध हो जाते हैं, तब-तब ज्ञान-विज्ञान एवं कला-कौशल की बड़ी क्षति हो जाती है। द्वेषियों-द्वारा ज्ञान के ग्रन्थ और इतिहास की पुस्तकें जलादी जाती हैं। विज्ञानीजन मार डाले जाते हैं। इस स्थिति में जगत् के ज्ञान-विज्ञान एवं कला-कौशल का तिरोभाव हो जाता है। परन्तु फिर बचे लोग क्रमशः उन्नति करते-करते हजारों वर्षों के अनेक पीढ़ियों में आगे बढ़ जाते हैं और पुनः ज्ञान-विज्ञान तथा कला-कौशल का विस्तार हो जाता है।

मान लीजिये, आज-कल जड़विज्ञान अधिक बढ़ा है, सब अपने-अपने विज्ञान के नशे में चूर हैं। परस्पर ईर्ष्या-द्वेष की आग जल रही है। यही आग यदि और बढ़ जाय और परस्पर परमाणुबम एवं अणुबमों का प्रयोग होने

लगे, तो संसार की क्या दशा होगी ? अन्य जनों के सहित विज्ञानी जनों का भी सर्वनाश हो जायगा, कला-कौशल के सब साधन नष्ट हो जायँगे। राज्य-व्यवस्था बिगड़ जायगी। विद्या-शिक्षा सब प्रायः लुप्त हो जायँगी। बचे-खुचे लोगों का पेट-पालना भी कठिन हो जायगा, फिर क्या उन्नति कर सकेंगे ?

इस प्रकार इस अनादि पृथ्वी तल पर ज्ञान-विज्ञान एवं कला-कौशल के अनादि काल से बारम्बार आविर्भाव[1] तिरोभाव होते ही रहते हैं और भविष्य में अनन्तकाल तक ऐसे ही होते रहेंगे। इस सिद्धान्त से आज ही के लोग मस्तिष्क से सोचते हैं, पहले के नहीं सोचते थे, यह कहना केवल बुद्धि का प्रमाद है।

'जो निरुपयोगी अंग हैं, वे कई पीढ़ियों में नष्ट हो जाते हैं। इसी नियम से मनुष्य की पूँछ झड़ गयी, कुछ दिनों में नाखून की यही दशा होने वाली है।' यह कहना सर्वथा अनुचित है। पहली बात तो यह है कि शरीर में कोई ऐसा अंग नहीं है, जिसका कभी कोई उपयोग न किया जाय। इसके अतिरिक्त यदि कम उपयोग में आने वाले अंग नष्ट हो जायँ, तो आजतक कान की ऊपरी पखुड़ी नाक का ऊपरी गोलक, नख और रोम न रह जाने चाहिये।

१—आविर्भाव = उदय या उत्पन्न, तिरोभाव = लय।

मनुष्य की पूँछ जो बड़ी थी, अनुपयोगी होने से वह शीघ्र नष्ट हो गयी और कान, नाक आदि के गोलक छोटे-छोटे होने पर भी न जाने क्यों आजतक नहीं नष्ट हुए। बन्दरों की पूँछें लम्बी-लम्बी होती हैं, काले मुख के बन्दरों की पूँछें तो बहुत बड़ी होती हैं, पता नहीं वह क्यों नहीं नष्ट होती है। उन पूँछों से बन्दर क्या अधिक काम लेते हैं? परन्तु जिन पैरों से बन्दर रात-दिन वृक्षों पर कूदा करते हैं। अर्थात् पैर का अधिक उपयोग करते हैं, उन पैरों का विकास होता ही नहीं।

किस आवश्यकता से मनुष्य की पहले पूँछ हुई थी और उसकी कौन सी आवश्यकता की पूर्ति हो गयी, जिससे मनुष्य की पूँछ झड़ गयी? पहले बन्दर से विकसित होकर मनुष्य हुए, अब क्यों नहीं होते? बन्दरों का विकास होते-होते जब मनुष्य होगये, तब बन्दर की खानि ही समाप्त हो जानी चाहिये थी। आज जो बात प्रत्यक्ष नहीं है, उसके पहले होने में क्या प्रमाण है? कोई विज्ञानी एक भी बन्दर को यदि सबके सामने मनुष्य बना दे, तो उसकी बात कदाचित कोई मान ले। नहीं विवेकवान् इनके मायाजाल में कैसे पड़ सकते हैं? माता-पिता के रज-वीर्य-द्वारा जिन खानियों की उत्पत्ति होती है, उन खानियों की उत्पत्ति माता-पिता के रज-वीर्य के बिना नहीं हो सकती। फिर पहले मनुष्यादि की सृष्टि बिना माता-पिता

और बिना रज-वीर्य के हुई—मानना केवल भ्रम है। इन्हीं कल्पित बातों को सिद्धान्त मानकर आज-कल पाठशालाओं में पढ़ाया जाता है। छोटेपने से ही लड़के अज्ञानी हो जाते हैं और मानने लगते हैं कि हमारा विकास बन्दरों से हुआ है। हम बन्दर के सन्तान हैं। अपना पूर्वज बन्दर एवं पशु मान करके ही लोग पशुवत् केवल पेट-भोग के परायण बने रहते हैं। शरीर से भिन्न अपने को अविनाशी चैतन्य होने का न इनमें ज्ञान होता है, न इन्द्रिय संयम और न शान्ति की प्राप्ति।

पूर्वपक्षी ने जो यह कहा कि 'मनुष्य यदि अपने हाथ को लकड़ी में बाँध दे, तो उसके हाथ के स्नायु सूख जायँगे और वह निकम्मा हो जायगा।' यह तो प्रत्यक्ष ही है। किसी अंग का दुरुपयोग करने से वह नष्ट हो ही जायगा, परन्तु इसका तात्पर्य यह थोड़े है कि जिस अंग पर अधिक काम करने का भार न पड़ेगा, वह नष्ट हो जायगा। अतएव जिससे अधिक काम लिया जाय, वह अंग बढ़कर न बादल में लगता है और जिससे कम-से-कम काम लेना पड़े वह अंग न नष्ट ही हो जाता है। न नाखून आदि का नाश होगा, न बन्दर से मनुष्य हुए हैं और न मनुष्य कुछ और विपरीत होंगे। जैसे आज चारों खानि हैं, वैसे चारों खानि का उत्पत्ति-क्रम और स्थिति, क्षय अनादि काल से अबाध रूप से है और

अनन्तकाल तक अबाध रूप से चला जायगा। अतएव पूर्वपक्षी-द्वारा उपस्थित किया हुआ लैमार्क का विकास-वादी-सिद्धान्त असम्भव दोष युक्त होने से सर्वथा त्यागने योग्य है।

४०. पूर्वपक्ष—डारविन का मत—प्राणियों में सन्तान-उत्पत्ति की प्रचुर क्षमता होती है। यदि प्राणियों के सभी सन्तान जीवित रहते, तो इस संसार में तिल रखने का स्थान न रहता। परन्तु जीवन-संघर्ष के कारण सभी सन्तान जीवित नहीं रहते। अतः सब प्राणियों में जीवन-संघर्ष जारी है। इस डारविन के सिद्धान्त अनु-सार इस संघर्ष में जो यशस्वी होगा, उसीका अस्तित्त्व शेष रहेगा और बाकी मर जायँगे। इस नियम से छोटे प्राणियों का अन्त होकर समर्थ और बलिष्ठ प्राणी ही रह जायँगे तथा अन्त में श्रेष्ठ श्रेणी के प्राणी ही इस संसार में रहेंगे।

उत्तरपक्ष—'प्राणियों के सब सन्तान जीवित रहते तो संसार में तिल रखने का स्थान न रहता' यह कहना तो ठीक है। परन्तु पूर्वपक्षी ने जो यह बात कही है कि 'जीवन-संघर्ष के कारण सब प्राणी नहीं रहते।' तो उनसे पूछना है कि वे 'जीवन-संघर्ष' क्या मानते हैं? क्या एक प्राणी जो दूसरे प्राणी को मारकर

खा लेते हैं यही 'जीवन-संघर्ष' है ? यदि यही 'जीवन-संघर्ष' है, तो समझना चाहिये कि एक सबल प्राणी दूसरे निर्बल प्राणी को मारकर खा लेता है, तो उस प्राणी का नाश कर देता है, पूरे खानि का नाश नहीं कर सकता। चारों खानियों के प्राणी एक-को-एक खाते ही रहते हैं, परन्तु क्या किसी खानि का आजतक अन्त हुआ है ? और यदि कोई प्राणी किसी प्राणी को न मारें-खायँ, तो क्या चारों खानि के सब प्राणी सदैव जीवित ही रहेंगे ? अवस्था और जीवों के कर्म-भोगानुसार शरीर तो छुटते ही रहेंगे। परन्तु दूसरे उत्पन्न भी होते रहेंगे।

और यदि छोटे-छोटे प्राणियों से बड़े-बड़े प्राणियों का विकास होना ही 'जीवन-संघर्ष' माने तो भी किसी खानि का अन्त नहीं होता। उनके मतानुसार छोटे-छोटे प्राणियों से प्रथम मेढक, बन्दर एवं मनुष्यों का क्रमशः विकास हुआ तो आज यह नहीं देखा जाता कि छोटे-छोटे प्राणी मेढक आदि आज न रह गये हों, केवल मनुष्य ही रह गये हों। चारों खानि हैं। बल्कि छोटे जन्तुओं की खानि अधिक विस्तृत है। डारविन के मतानुसार कम-से-कम मक्खी, मच्छड़ तथा जल आदि में रहने वाले छोटे-छोटे प्राणियों का आजतक सर्वथा अन्त हो जाना चाहिये था। डी० डी० टी० छिड़ककर आजकल लोग कितने मक्खी, मच्छड़ आदि को मारते रहते हैं, परन्तु उनकी

संख्या ज्यों-की-त्यों बनी ही रहती है। अतः न तो किसी खानि का अन्त हो सकता है और न तो किसी नई खानि की उत्पत्ति हो सकती है। 'जीवन-संघर्ष' के कारण सब छोटे प्राणियों का अन्त होकर अन्त में श्रेष्ठ श्रेणी के प्राणी ही संसार में रह जायँगे। यह डारविन का सिद्धान्त युक्ति-प्रमाण-रहित और असम्भव दोषयुक्त होने से महा कल्पित सिद्ध होता है। इसलिये यह मत मानने योग्य नहीं है।

४१. पूर्वपक्ष—पहले साइकिलें-मोटरें भद्दी बनती थीं। परन्तु आज तक उसका विकास होते-होते अच्छी बनने लगीं। यदि पूर्व की भद्दी साइकिलें मोटरें और उत्तर-उत्तर से आज तक की मोटरें-साइकिलें एक पंक्ति में रखदी जायँ,तो यही ज्ञातहोगा कि उत्तर-उत्तर आजतक की साइकिलें-मोटरें पूर्व-पूर्व साइकिलों-मोटरों के सुधरे रूप हैं,विकास हैं। इसी प्रकार आरम्भ कालमें एक जातिके अमीबा नामक छोटे-छोटे प्राणी थे, उन्हीं का विकास होते हुए और अकार-प्रकार बदलते-बदलते मेढक, सर्प, पक्षी, शशक, कुत्ता, घोड़ा, बन्दर एवं मनुष्यों का विकास हुआ है।

उत्तरपक्ष—"पूर्व की भद्दी साइकल-मोटरों से आज की सुधरी हुई साइकल-मोटरों का विकास हुआ"—

ठीक है। परन्तु यह तो नहीं कहा जा सकता कि पूर्व की भद्दी मोटरों से सुधरते-सुधरते आज के रेल, वायुयान और अणुबमों का विकास हुआ है ? मोटरें सुधरेंगी, तो मोटरें ही रहेंगी, साइकिलें सुधरेंगी, तो साइकिलें ही रहेंगी। सुधर करके मोटरें-साइकिलें तोप-बन्दूक एवं रेल नहीं हो जायँगी। इसी प्रकार अमीबा का विकास होकर अमीबा ही रहेगी, मेढक, बन्दर सुधर करके मेढक, बन्दर ही रहेंगे। वे हाथी, बैल या मनुष्य नहीं हो जायँगे ।

वास्तविक बात तो यह है कि मोटर आदि यन्त्र सोच-विचार कर मनुष्य बनाता है और उसमें अपनी भूलों को उत्तरोत्तर सुधारते हुए और ज्ञान बढ़ाते हुए भविष्य में अच्छा बनने लगता है। परन्तु उष्मज, अण्डज, पिण्डज और मनुष्य—इन चारों खानियों की उत्पत्ति-क्षय तो जीवों के कर्म वासनाओं के अनुसार प्रवाह रूप अनादि है। इन खानियों के शरीरों का सुधार या विकास नहीं होता। जैसा आज है, वैसा करोड़ों-अरबों युगों एवं अनादि काल से था और भविष्य में अनन्त काल तक रहेगा।

पहले की भद्दी मोटर-साइकिलों से आज की विकसित मोटर-साइकिलें सुन्दर एवं टिकाऊ होती हैं। विकास-वादियों के मतानुसार कच्छप, सर्प के विकास से कबूतर आदि पक्षी हुए और पक्षियों के विकास से शशक, कुत्ता,

घोड़ा, बन्दर एवं मनुष्य हुए। कहा जाता है आयु—शास्त्रियों के मतानुसार कच्छप डेढ़ सौ वर्ष और सर्प एक सौ बीस वर्ष जीता है। परन्तु कच्छप और सर्प से विकसित कबूतर आठ ही वर्ष, कुत्ता चौदह वर्ष, घोड़ा बत्तिस वर्ष, बन्दर इक्कीस वर्ष एवं मनुष्य सौ वर्ष जीता है। डेढ़ सौ और एकसौ बीस वर्ष जीने वाले कच्छप-सर्प से जब कबूतर, शशक, कुत्ता आदि का विकास हुआ, तब कबूतर, शशक आदि को उत्तरोत्तर दो सौ, ढाई सौ, तीन सौ एवं चार सौ वर्ष जीने चाहिये तथा मनुष्य को कम-से-कम पाँच-छः सौ वर्ष जीना चाहिये। परन्तु कच्छप सर्प की अनेक पीढ़ियों के विकसित रूप होते हुए भी, मनुष्य कच्छप-सर्प से कम जीता है। फिर विकास में अल्पायु होना चाहिये या दीर्घायु ?

उत्तम टिकाऊ नयी मोटर-साइकिलें बन जाने पर भद्दी, दुर्बल साइकिल-मोटरें नहीं बनतीं। परन्तु यहाँ तो उष्मज छोटे-छोटे प्राणी अमीबा आदि से सर्प, पक्षी, पशु एवं मनुष्य उत्तम प्राणियों का उत्तरोत्तर विकास हो गया। परन्तु पूर्व-पूर्व के छोटे प्राणियों उष्मज आदि का उत्पन्न होना बन्द ही नहीं हुआ। मनुष्य की अपेक्षा असंख्य गुणा उष्मजादि जीव अधिक हैं। ऐसा क्यों ? इसका उत्तर विकासवाद में नहीं है !

४२. पूर्वपक्ष—'परिस्थितिके अनुसार हड्डीदार तथा

हड्डी-रहित प्राणी हुए और परिस्थिति-वश ही स्तन होना, पूँछ होना तथा दाढ़ी-मूँछ होना प्राणियों में सम्भव हुआ।

उत्तरपक्ष—जड़ से भिन्न अविनाशी जीवों का होना तथा उनका स्वकीय कर्मफलों का भोगना, कर्मानुसार शरीरों का प्राप्त होना एवं चारों खानियों का विस्तार प्रवाह रूप अनादि होना—यह सब जड़ विकासवाद में न निश्चय होने से सब बातों में परिस्थिति ही पर जोर देते हैं। अर्थात् परिस्थिति-वश हो गया। परन्तु उनको विवेक करना चाहिये कि एक ही परिस्थिति में भाई-बहन होते हैं, फिर उनके शरीर-आकार में विभिन्नता क्यों होती है? इसी प्रकार कबूतर-कबूतरी, मयूर-मयूरी, हाथी-हथिनी, घोड़ा-घोड़ी एवं मुर्गा-मुर्गी एकही परिस्थिति में होते हैं। फिर इनके घट-आकार, दाँत, पंख, कलँगी एवं लिंग में क्यों भिन्नता हो जाती है? अतएव इन विकासवादियों का परिस्थितिवाद सर्वदा भ्रमात्मक एवं निराधार है।

कहते हैं "पहले अमीबा नामक प्राणी में नर-मादा की भिन्नता नहीं थी, पीछे हो गयी।" तो उनसे पूछना है कि क्यों हो गयी? बिना नर-मादा की भिन्नता के जब पहले काम चल जाता था, तब भेद होने की क्या आवश्यकता? "पहले प्राणियों में स्तन नहीं होते थे, चमगादड़ से स्तन

होना आरम्भ हुआ।" तो जब पहले बिना स्तन के व्यवहार चल जाता था, तब पीछे स्तन की क्या आवश्यकता आ पड़ी और मादा के स्तन हुआ तो ठीक हुआ, परन्तु नरजाति में स्तन-चिन्ह होने की क्या आवश्यकता ?

पक्षियों के पश्चात् बन्दरों का विकास मानते हैं, फिर बन्दरों में पंख क्यों नहीं रह गये ? बन्दर एक वृक्ष से दूसरे वृक्ष पर कूदा करते हैं, यदि इनके पंख होते, तो ये वृक्षों पर उड़-उड़कर बैठनेमें क्या आनन्द का अनुभव नहीं करते ? मनुष्य में भी पंखका न रहना विकासवादकी बड़ी भारी त्रुटि है। क्योंकि मनुष्य भी उड़ना चाहता है। बेचारे मनुष्य के जब उड़ने के पंख नहीं रहे, तो कृत्रिम वायुयान बनाकर उसमें उड़ने की वासना पूर्ण करता है।

इन्द्रियाँ आवश्यकता के अनुसार होती गयीं—विकासवाद की यह मान्यता बिलकुल त्रुटि पूर्ण है। गर्भस्थ शिशु के आँख की क्या आवश्यकता थी, क्योंकि वहाँ तो अन्धकारहै। इसी प्रकार उसके हाथ-पैर-कान आदि होना भी निष्प्रयोजन है।

विकासवादियों का कहना है "परिस्थिति के अनुसार प्राणियों के रहने में जैसी सुविधा पड़ी, वैसे उनके अंगों का परिवर्तन होता गया या पहली पीढ़ी के अर्जित गुण सन्तान में आते गये।" विचार यह है कि सैकड़ों वर्षों से

मनुष्य वायुयान बनाता और उसमें उड़ता है, फिर क्या किसी मनुष्य के शरीर में पंख का चिन्ह तक उगा होगा। सहस्रों वर्षों से मुसलमान लोग सुन्नत कराते हैं फिर मुसलमान के बच्चे सुन्नत-सहित क्यों नहीं पैदा होते? पता नहीं कितने हजारों-लाखों वर्षों से हिन्दूजन चोटी रखते हैं, फिर उनके पैदा होते समय गर्भ से ही चोटी क्यों नहीं होती? लैमार्क ने चूहों की पूँछें अनेक पीढ़ियों तक काट-काटकर बिना पूँछ के चूहे उत्पन्न करना चाहा था, फिर क्यों नहीं सफल हुए? देश तथा जलवायु के अनुसार प्राणियोंके रूप रंगमें थोड़ा अन्तर होता है, परन्तु यह अन्तर अनादि से ही रहा है। जिस देश में काले-गोरे नाटे-लम्बे आदि जैसे कद के मनुष्य आज होते हैं, उस देश में वैसे सदैव से ही होते आये हैं। अतः जलवायु और देश के अन्तर से इतना ही अन्तर होता है। कुछ चींटी हाथी नहीं होती, बन्दर ऊँट नहीं होते।

डार्विन का कहना है कि "सर्वत्र-निरन्तर परिवर्तन होता है, अतः परिवर्तन होकर प्राणी-पदार्थ कुछ के कुछ बन जाते हैं।" परन्तु यह बिलकुल असत्य है। परिवर्तन अमर्यादित नहीं है, एक तो सब वस्तु में सर्वत्र सब समय परिवर्तन भी नहीं होता। फिर जिसमें, जिस समय परिवर्तन होता है, वहाँ भी मर्यादा पूर्वक ही। बालक के परिवर्तन होने से वह युवा हो जाता है, यह नहीं कि मनुष्य

के बालक का परिवर्तन होकर ऊँट हो जाता है। मिट्टी के कुछ अंश में परिवर्तन होने से कंकड़-पत्थर बन जाते हैं, यह नहीं कि समुद्र का परिवर्तन होकर पेड़ हो जाता है। जल का परिवर्तन होकर तरंग, बर्फ, ओला-पाला बन जाते हैं न कि वायुयान, मोटर या रेल!

'प्रो० सोलस' ने संसार को यह बात बतायी कि मनुष्य का विकास हुए वर्तमान समय तक कुल आठ लाख बीस हजार वर्ष हुए। 'कीथ' 'शिम्पर' 'हेकल' तथा 'डाक्टर चर्च' ने भी इसी बातको दोहरायी एवं इसी मतपर मोहर लगायी। परन्तु जमाना बदला, मि० जान टी० रीड हुए। उन्होंने नेवादा में एक साठ लाख वर्ष का पुराना जूते का तल्ला पत्थर के रूप में पाया; तब से विकासवाद की दुर्बलता सबके सामने प्रत्यक्ष हो गयी।

जूता मनुष्य ही पहनता है। जब साठ लाख वर्ष का पुराना पत्थर का जूता मिला, तब आठ लाख बीस हजार वर्ष से ही मनुष्य की उत्पत्ति मानना कितना अयुक्त है?

वर्तमान के कुछ वैज्ञानिकों ने एक नवीन सिद्धान्त स्थिर किया है। उनका कहना है कि बन्दरों से मनुष्यों का विकास नहीं हुआ, बल्कि मनुष्यों से बन्दरों का हुआ। ऐसे लोग कहते हैं कि पहले मनुष्यों ने ज्ञान-विज्ञान की बड़ी उन्नति की। अनेक पीढ़ियों तक मस्तिष्क से इतने

काम लिये कि उनके मस्तिष्क क्रमशः दुर्बल हो गये और बहुत दिन बीतने पर वे सब बुद्धिहीन, असभ्य एवं जंगली होते गये। कुछ दिनों में उनमें से कुछ बनमानुष हो गये और कुछ बन्दर हो गये।

यह भी लाल बुझक्कड़ की एक कथा है अर्थात् कल्पना की उड़ान है। इस सिद्धान्त से तो वर्तमान वैज्ञानिकों पर पूरा खतरा है। क्योंकि ये भी ज्ञान-विज्ञान की बड़ी उन्नति कर रखे हैं, ये भी मस्तिष्क से अधिक काम लेते हैं। अतएव कुछ पीढ़ियों में इनका भी बनमानुष तथा बन्दर हो जाना अवश्यम्भावी है।

विज्ञान के सिद्धान्त-अनुसार चेतन जीव प्रोटोप्लाज्म ही है। प्रोटोप्लाज्म में जो शहद की भाँति तरल पदार्थ भरा है, वह कार्बन, हाइड्रोजन, नाइट्रोजन तथा फासफरस आदि बारह भौतिक पदार्थों से बना है। जो बिलकुल जड़ हैं। ये भौतिक पदार्थ भी इलेक्ट्रोन के कम-विशेष मेल से बनते हैं। इलेक्ट्रोन टुकड़े-टुकड़े हैं। ऊपर का सरल अर्थ यह हुआ कि उपर्युक्त सारे पदार्थ जड़ परमाणु से बने हैं। अर्थात् जीव प्राकृतिक जड़ परमाणुओं से बना है।

विज्ञानियों का मत है कि चेतन पदार्थ दीपक की ज्योति अथवा पानी के भँवर के सदृश यद्यपि नित्य प्रतीत होते हैं। तथापि वह प्रतिक्षण परिवर्तित होने वाला

पदार्थ है। चेतन पदार्थ परमाणु से बने हैं। अतः नये-नये परमाणु उसमें चिपकते जाते हैं और पुराने-पुराने परमाणु पृथक् होते जाते हैं। इस भाँति की धारा सदैव बहती रहती है। इसीलिये ज्ञान और चैतन्य का क्रम निरन्तर बना रहता है।

विज्ञान का सिद्धान्त है कि "कई इलेक्ट्रोनों का समूह परमाणु (एटम) है। इलेक्ट्रोन आपस में चिपकते नहीं प्रत्युत दूर-दूर रहते हैं। जैसे तारे दूर-दूर रहतेहुए एक तारपिण्ड एवं सौर-जगत कहलाते हैं। तद्वत् अनेक इलेक्ट्रोनों का योग परमाणु भी है। इसी परमाणु अर्थात् एटम से उपर्युक्त कार्बन-हाईड्रोजन आदि बारहों पदार्थों का निर्माण होता है; और इन बारहों पदार्थों से चेतन बने हैं। उपर्युक्त बारहों पदार्थ बदलने वाले होने के नाते उनसे बना चेतन भी परिवर्तनशील है।" ऐसा माना है।

वैज्ञानिकों का कहना है कि "परमाणुओं की चाल प्रति सेकेण्ड एक लाख मील है। विचार करने की बात है कि इस प्रकार वेग पूर्वक चलने वाले परमाणु अपना ज्ञान दूसरे परमाणुओं पर कैसे फेकते हुए चलते होंगे। अर्थात् एक परमाणु से ज्ञान उड़कर दूसरे परमाणु में किस भाँति जाता होगा?

जीव के विषय में विकासवादियों की दो कल्पनायें हैं। एक कल्पना यह है कि 'पृथ्वी पर गिरने वाले तारकाओं-

द्वारा जीवन बीज (प्रोटोप्लाज्म) हमारे यहाँ (पृथ्वीपर) पहुँचा ।" परन्तु विकासवादियों को विचार करना चाहिये कि प्रोटोप्लाज्म में इतना बल है कि तारकाओं-द्वारा पृथ्वी पर गिरते तक, उसमें जीवन-बीज शेष रह जाय ? फिर ऊपर से जीवन-बीज गिरने की भी तो मात्र कल्पना ही है।

विकासवादियों की दूसरी कल्पना यह है कि "असंख्य वर्षों से पहले अनुकूल परिस्थिति पाने से जीवन का एक-दम अपने आप प्रादुर्भाव हो गया।" विचारणीय बात यह है कि जो गुण-धर्म कारण में न होगा, वह उसके कार्य में कैसे आजायगा ? जब चेतन था ही नहीं तब एकदम कहाँ से आगया ?

"नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।"

(गीता)

अर्थात् असत्य का भाव नहीं होता और सत्य का अभाव नहीं होता।

विज्ञानी स्वयं कहते हैं कि 'जीव क्या है ?' हम नहीं जानते। यह शुभ लक्षण है कि आधुनिक वैज्ञानिकों का इधर ध्यान गया है और वे भी जीव को अजर-अमर मानने का प्रयास कर रहे हैं।

वाष्प-शक्ति, अणु-शक्ति, विद्य त-शक्ति आदिकी वैज्ञानिकों ने खोज की। नाना यन्त्र, कल-कारखाने जनता को दिये। इन्हीं कारणों से लोगों के मनमें यह भ्रम हो गया होगा कि वैज्ञानिक जो कुछ करेगा या कहेगा वह लाभप्रद या सत्य रहेगा। इसी विश्वास के आधार पर ईथर से ग्रह-उपग्रह, सूर्य से पृथ्वी, बन्दर से मनुष्य आदि निर्माण एवं विकास होने का भ्रम लोगों ने स्वीकार कर लिया होगा।

वैज्ञानिकों ने कल-कारखाने या नाना यन्त्र दिये, इससे व्यवहार-क्षेत्र में तो अवश्य लाभ हुआ, परन्तु साथ ही हानि भी हो रही है। अधिक हिंसा, विलास, अधिक नये-नये रोग, उत्तेजना, परस्पर राष्ट्रों में कलह— यह सब विज्ञान की देन है। अनेक अस्त्र-शस्त्रों का निर्माण कर मनुष्य अपने निकट संहार को बुला लिया है। एक मनुष्य बहुत पुरुषार्थ करके धन, भोग, स्त्री, भोजन, वस्त्र से सुखी हो गया; परन्तु साथ ही तीव्र खड्ग का निर्माण करके उसे अपने गला में भोंक लिया, तो यह उन्नति नहीं कही जा सकती। इसी प्रकार अनेक यन्त्र, कला से व्यवहार की उन्नति कर ली गयी, परन्तु उन्हीं यन्त्रादिकों का दुरुपयोग करके एवं अणुबम और परमाणु बमों को बनाकर तथा नाना संहारकारक यन्त्र-निर्माण कर मनुष्य के सर्वनाश का साधन बना दिया गया और नाना भोग-

विलास एवं हिंसा आदि की सामग्री जुड़ाकर मनुष्य को वास्तविक शान्ति से गिरा दिया गया, तो इसको उन्नति नहीं कह सकते। क्या ही अच्छा होता कि अधिक विषय-विलास हिंसा एवं संहार आदि की सामग्री न इकट्ठी कर, केवल व्यावहारिक-उन्नति की ही सामग्री इकट्ठी की जाती। सूर्य से पृथ्वी, बन्दर से मनुष्यादि की उत्पत्ति एवं विकास निम्न दृष्टान्तानुसार अन्ध विश्वास से लोग मानते चले जाते हैं।

दृष्टान्त--एक श्रोता को एक पण्डित जी कथा सुनाते थे। श्रोता बिलकुल मूर्ख था। परन्तु उसे यह विश्वास था कि पण्डितजी जो बात कहेंगे, सत्य रहेगी। इसी कारण पण्डित जी के हर बातों में कहा करता 'सत्यवचन महराज' कई दिन ऐसा करते हुए पण्डितजी ने सोचा कि श्रोता कुछ समझता भी है कि केवल 'सत्य वचन महराज' ही कहा करता है। ऐसा विचार कर परीक्षा लेने के लिये पण्डितजी ने श्रोता से कहा--एक वृक्ष में मधु-मक्खियों का एक छत्ता लगा था। श्रोता ने कहा--सत्य वचन महराज। पण्डितजी--वे सब मक्खियाँ उड़ीं और एक बाजार में गयीं। श्रोता--सत्य वचन महराज। पण्डितजी—एक बड़ी दूकान पर, गुड़ के एक-एक मन के बड़े-बड़े चाक पड़े थे। उन एक-एक चाकों पर एक-एक मक्खी बैठगयीं। श्रोता—सत्यवचन महराज। पण्डितजी-

पुनः वे एक-एक मक्खियाँ एक-एक चाकों को लेकर उड़ गयीं। श्रोता—सत्य वचन महराज। अब तो पण्डित जी समझ गये कि कितनी समझ श्रोता में है।

उपर्युक्त दृष्टान्तानुसार विकासवादियों तथा वैज्ञानिकों ने कहा—सूर्य से टूटकर पृथ्वी बनी, पृथ्वी फटने से जितना भाग धँस गया, उसका समुद्र बना। जो भाग ऊपर उठ गया, उसका पर्वत हो गया। कीड़े मेढक हो गये, मेढक बन्दर हो गये, बन्दर मनुष्य हो गये। कुत्ते-सूअर जैसे प्राणी घोड़े-हाथी हो गये, इत्यादि। लोग कहने लगे—सत्य वचन महराज। इस अविद्या से मुक्त होने के लिये पारखी सन्तों का सत्संग करना अत्यन्त आवश्यक है।

एक गृहस्थ भक्त के यहाँ एक महात्मा गये। भक्त का एक लड़का कालेज में पढ़ रहा था। लड़के की कापी महात्मा के हाथ में आगयी। महात्मा ने उसमें देखा तो लिखा था कि सूर्य से टूटकर पृथ्वी बनी, बन्दर से मनुष्य हुए इत्यादि। महात्मा ने लड़के से पूछा—क्यों भैया! तुम ऐसा ही मानते हो जैसा कि इसमें लिखा है? लड़के ने कहा—नहीं गुरुदेव! मुझे तो आप की कृपा से पूर्ण बोध है कि जगत अनादि है और चारों खानि की सृष्टियाँ भी अनादि हैं, बन्दर से सदैव बन्दर होते हैं, मनुष्यादि नहीं। महात्मा ने कहा-परन्तु तुम्हारी कापीमें तो लिखा है कि सूर्य से पृथ्वी

हुई और बन्दर से मनुष्य हुए? लड़के ने कहा—गुरुजी! यह तो "बन में बेबाक कचहरी में बाकी" का दृष्टान्त है। महात्मा ने कहा—यह क्या? लड़के ने कहा—महाराज! एक समय की बात है कि लगान वसूल करने वाला एक तहसील का कर्मचारी वन में होकर जा रहा था। इतने में उसी क्षेत्र का एक किसान मिल गया जो बदमाश स्वभाव का था। उसने उस कर्मचारी से कहा—हमारे लगान की बेबाकी रसीद दे-दे। कर्मचारी ने कहा—आप रुपया दे दीजिये, तो मैं आप को बेबाकी रसीद दे दूँ। किसान ने कहा—रुपया नहीं दूँगा, बिना रुपया दिये बेबाकी रसीद दे-दे नहीं तो अभी तुम्हें पीट डालूँगा। कर्मचारी ने असमय जानकर बेबाकी रसीद दे तो दी, परन्तु उस रसीद में लिख दिया कि "बन में बेबाक कचहरी में बाकी" जब एक महीना के पश्चात् तहसील से लगान चुकाने के लिये नोटिस आयी, तब अपनी बेबाकी रसीद लेकर किसान तहसील में गया और तहसीलदार से कहा-सरकार! मैंने तो लगान बेबाक कर दिया है। तहसीलदार ने उसकी रसीद देखा और कहा—भाई! ये बनमें बेबाक है न, कचहरी में तो बाकी लिखा है। लाओ, लगान देना पड़ेगा। फिर उस किसान को लगान देना पड़ा।

यह दृष्टान्त कहते हुए लड़के ने कहा—गुरुजी! इसी प्रकार आधुनिक अध्यापक लोग केवल लकीर के फकीर

होते हैं। स्वयं विवेक तो करते नहीं,जबर्दस्ती यही पढ़ाते हैं कि सूर्य से टूट कर पृथ्वी बनी और बन्दरों से मनुष्यों का विकास हुआ, इत्यादि। यदि इस बात को वहाँ न माने न पढ़े-लिखे, तो परीक्षा में फेल हो जाना पड़े। इसलिए स्कूल रूपी वन में यही कह या लिख-पढ़ दिया जाता है। परन्तु सत्संग रूपी कचहरी में बाकी रखते हैं अर्थात् सत्संग से यह निश्चय रखते हैं कि सूर्य, चन्द्रादि युत जगत अनादि है और मनुष्य, पशु, अण्डज और उष्मज ये चारों खानियाँ भी प्रवाह रूप अनादि हैं। ये एक-से-एक उत्पन्न या विकसित नहीं हुए। जैसा सृष्टि-क्रम आज है,वैसा अनादि काल से था और अनन्त काल तक ऐसा ही चला जायगा। महात्मा जी लड़के की बुद्धिमानी पर बहुत प्रसन्न हुए।

निष्कर्ष

एक अदृश्य कारण-कर्ता से जगत्-उत्पत्ति मानने वाले वादियों के मतों को यहाँ तक संक्षिप्त रूप से दर्शा कर उनका निराकरण भी किया गया। जगत्-उत्पत्ति मानने वाले उपर्युक्त सर्व सिद्धान्तों के मत एक-से-एक सर्वथा विरोधी हैं। फिर किस सिद्धान्त को अपनाकर आप किस प्रकार जगत्-उत्पत्ति मानेंगे ? जबकि सब की बातें प्रत्यक्ष प्रमाण-रहित कल्पित ही हैं। नीचे के दृष्टान्तानुसार जगत्-

उत्पत्ति मानने वाले सर्व मतों का त्याग करना ही विवेकियों का कर्तव्य है।

दृष्टान्त—जगेसर ने दीनदयाल के ऊपर जालसाजी दीवानी की, कि "दीनदयाल को २५००) पच्चीस सौ रुपये मैंने बिना दस्तावेज एवं बिना लिखा-पढ़ी के केवल विश्वास पर कर्ज दिया था। समय पर रुपये माँगने पर वे कहते हैं कि मैंने आप से कभी रुपये नहीं लिया है। अतः वे हमारे रुपये का गबन करना चाहते हैं। सरकार से निवेदन है कि इसका उचित जाँच-पड़ताल करके हमारे रुपये दीनदयाल से वसूल करा दिये जायँ।"

यह मुकदमा चालू हुआ, बयान में न्यायाधीश ने जगेसर से पूछा—तुम कितने रुपये, कब, किसके सामने, कितने समय दीनदयाल को दिये थे? जगेसर ने कहा—गतवर्ष माघ पूर्णमासी प्रातःकाल ८ बजे चार आदमियों के सामने अपने घर पर पच्चीस सौ रुपये दीनदयाल को मैंने दिया। न्यायाधीश ने कहा—आगे तारीख पर उन चारों गवाहों को उपस्थित करो कि जिनके सामने तुमने रुपये दिये हैं। दूसरी तारीख पर उनको जगेसर ने लाया। एक गवाह से न्यायाधीश ने पूछा—जगेसर ने कब, किस समय, किसके सामने, क्या वस्तु दीनदयाल को दिया? गवाह ने कहा—सरकार! गतवर्ष माघ अमावस्या के दिन १२ बजे ५ आदमियों के सामने बीस सौ रुपये जगेसर ने

दीनदयाल को दिये थे--मैं जानता हूँ। दीनदयाल का वकील—क्या गाँव के बाहर बाग में जाकर रुपये दिये थे न ? गवाह--हाँ-हाँ हुजूर ! बाग ही में दिये थे। न्यायाधीश ने दूसरे गवाह को बुलवाया और वही बात पूछा। दूसरे गवाह ने कहा--हुजूर ! गतवर्ष माघकृष्णपंचमी के दिन छः बजे सायंकाल को जगेसर ने दीनदयाल को पचीस सौ रुपये दिये थे। दीनदयाल का वकील--रुपये सत्ताइस सौ थे न ? गवाह--हाँ-हाँ हुजूर ! मैं भूल गया था। वकील--रुपये तो गाँव के स्कूल में दिये गये थे, वहाँ पचीसों आदमी थे न ? गवाह--हाँ सरकार ! रुपये देते समय पचीसों आदमी थे और स्कूल में ही दिये गये थे। न्यायाधीश ने तीसरे गवाह को बुलाया और वही बात उससे भी पूछा। गवाह ने कहा--गतवर्ष पौषशुक्लपूर्णिमा को तीन बजे दिन में दो आदमियों के सामने चौबीस सौ रुपये जगेसर ने दीनदयाल को दिये। न्यायाधीश ने इसी प्रकार चौथे गवाह से पूछा। चौथे गवाह ने कहा--हुजूर। मैंने सुना है कि ३-४ वर्ष हो गये, जगेसर ने दीनदयाल को रुपये दिये हैं। परन्तु कितने दिये, कहाँ पर दिये, कितने मनुष्यों के सामने दिये ? यह मैं नहीं जानता।

न्यायाधीश ने इस मुकदमा को जालसाजी समझकर खारिज कर दिया। जगेसर अपना मुकदमा खारिज सुनकर दौड़ा-दौड़ा न्यायाधीश के पास आया और कहा—हुजूर ! हमारा मुकदमा क्यों खारिज किया गया ?

न्यायाधीश ने कहा– तुम्हारा कथन और तुम्हारे चारों गवाहों के कथन परस्पर विरोधी हैं। तुम्हारा एक गवाह कह रहा था कि २५००) नहीं २७००) दिये थे। जगेसर— हाँ हाँ हुजूर! दरखवास्त देते समय मैं भूल गया था, रुपये २७००) ही थे। न्यायाधीश ने कहा--तुम्हारे अन्य गवाहों में से कोई २४००) बतलाता है कोई २०००) फिर कौन बात सत्य मानी जाय? जगेसर--हुजूर! इस समय मेरा दिमाग ठीक नहीं है, मेरा मुकदमा कायम रखा जाय। तबियत ठीक होने पर मैं पुनः ठीक-ठीक बयान दूँगा और प्रामाणिक गवाहों को लाकर उपस्थित करूँगा। न्यायाधीश ने कहा--तुम अधिक बात करोगे, तो तुम्हारे ऊपर उल्टा मुकदमा चलाया जायगा। तुम बड़े जालसाज, बेईमान आदमी दिखते हो। अतएव यह मुकदमा झूठा समझकर मैं अपने न्यायालय से खारिज करता हूँ।

जगेसर और उनके गवाहों के बयान एक समान न ठहरने से मुकदमा झूठा समझ कर न्यायाधीश ने जैसे खारिज कर दिया। वैसे जगत-उत्पत्ति के विषयमें अदृश्य कारण-कर्ताओं के नाना मतों की विरोधी कल्पनाओं को सुनकर जगत-उत्पत्ति विषयक मुकदमा को पारखी–विवेकी संत रूप न्यायाधीश खारिज कर देते हैं।

श्रुति-स्मृति में भिन्न-भिन्न प्रकार सृष्टि होना माना है। ऐतरेय उपनिषद् के मत से बिना कोई सुव्यवस्था के

ईश्वर ने जगत बना दिया। तैत्तिरीय उपनिषद् के मत से प्रथम आकाश उत्पन्न हुआ फिर अग्नि आदि। छान्दोग्य उपनिषद् के मत से प्रथम तेज (अग्नि) उत्पन्न हुआ। प्रश्न उपनिषद् के मत से प्रथम प्राण की उत्पत्ति हुई। मीमांसा में कर्म, वैशेषिक-न्याय में परमाणु, योग-सांख्य में प्रधान, वेदान्त में ब्रह्म से जगत-उत्पत्ति माना है। विष्णु पुराण वाले विष्णु से, शिव पुराण वाले शिव से, देवी पुराण वाले देवी से, ब्रह्मवैवर्त वाले श्री कृष्ण से, अनुराग सागर वाले सत्यपुरुष-कूर्मादि से, राधा-स्वामी मत वाले, राधास्वामी धाम से, विकास-वादियों ने ईथर या नीहारिकाओं से, सूर्य, पृथ्वी, चन्द्रादि की सृष्टि मानी है। पारसी लोग दिव्य शक्ति सम्पन्न 'अहुरमज्द' से, यहूदी-ईसाई और मुसलमान ईश्वर द्वारा शून्य (अवर्तमान) से, चीनी दैवी शक्तिवाले 'पां०कु' से; ईजिप्सियन 'नुम' 'टा' या 'थोथा' की प्रेरणा-द्वारा अण्डे से; फिनीसियन छः पंखवाले देवता से; वेबीलोनियन अर्ध-सर्प और अर्ध-अश्वदेह वाले एक विशिष्ट देवता से; आफ्रीका वाले पतंग से; आस्ट्रे-लिया वाले 'पण्डुजिल' नामक पक्षी से तथा अमेरिका वाले पक्षी-द्वारा अण्डे से एवं पलेनेशियन 'पाप' नामक जल-देवता से सृष्टि उत्पन्न होना मानते हैं। इससे और अधिक अज्ञात कितने सिद्धान्त जगत-उत्पत्ति विषयक हैं। फिर किसको सत्य और किसको झूठा मानेंगे?

विशेषज्ञ 'विलिस' ने अपनी पुस्तक में डारविन के

निर्वाचनवाद (जीवन संघर्षमें अल्पशक्तिवाले जीवोंका नाश होकर समर्थशाली का ही रह जाना) की कड़ी आलोचना की है। 'डी व्रीज' ने अपना भिन्न विचार प्रस्तुत किया है। 'मैन्डल' (आस्ट्रेलिया के एक मठवासी) ने अपना अलग ही राग अलापा है। रूस-निवासी 'लाइसेन्को' ने 'मैन्डल' आदि का कर्कश खण्डन किया है।

एक विद्वान का कथन है—"थेलीज, अनाक्समण्डर, अनाक्समेनिस, पिथागोरस, जेनोफेन्स, हिराक्लिटस, अनाक्सगोरस, डेमोक्रेटस, सोफिस्ट, उसेलस, साक्रेटिस, प्लोटो, अरिस्टाटल, एपिक्यूरस, डाल्टन, डार्विन, हेकल, हाक्सले आदि दिग्गज पश्चिमी दार्शनिक पण्डितों की भी सृष्टि कोमल कमनीय तथा कठिन कर्कस कल्पना जल्पनायें हैं। कोई जल से सृष्टि मानता है तो कोई परमाणु से। कोई विवर्तवादी है तो कोई शून्यवादी। कोई विज्ञानवादी है तो कोई विकासवादी। कितने ही 'अज्ञेय' कहकर पीछा छुड़ाते हैं और कितने ही इसे 'अनावश्यक' कहकर सन्तोष कर लेते हैं।"

ईशाईयों के मत से पृथ्वीकी आयु सात हजार वर्ष की है। पदार्थ विज्ञानियों के मत से चालीस लाख वर्ष की है। भू गर्भ विद्या के पण्डितों के अनुसार दश करोड़ वर्ष है। रेडियम के अनुसार उसकी किरणों से बने तत्त्वों के गणित पर पृथ्वी की आयु सात अरब वर्ष है। कोई चार

सौ करोड़ वर्ष बतलाते हैं। भारतीय दर्शन के अनुसार पृथ्वी की उत्पत्ति हुए करीब दो अरब वर्ष हुए होंगे। विज्ञानी जन सूर्य की आयु चालीस खर्व वर्ष की मानते हैं।

जगत्-उत्पत्ति के विषय में सब लोगों के मत कल्पित, युक्ति-प्रमाण से रहित एवं मन गढ़न्त मात्र हैं। जिसके मनमें जो आया है, वह उसी प्रकार लिख या कह डाला है। अतएव विवेकी-पारखी सन्त रूपी न्यायाधीश जगत्-उत्पत्ति विषयक द्वन्द्वात्मक मुकदमाको खारिज कर देते हैं और जैसे जगत् उत्पत्ति-प्रलय-रहित अनादि और अनन्त है, वैसे निरूपण करते हैं।

पूर्वार्ध समाप्त

जगन्मीमांसा

उत्तरार्ध

महामनस्वी प्रातःस्मरणीय सद्गुरु श्री कबीर साहेब निर्णय और विवेक का आधार लिये हैं, वे किसी ग्रन्थ एवं मनुष्य का पक्ष न लेकर सत्यनिर्णय-द्वारा ही यथार्थ सिद्धान्त स्थिर किये हैं[1]। इस पर यह कहा जा सकता है कि निर्णय का क्या स्वरूप है ? तर्क की तो कहीं स्थिरता नहीं है। इसके उत्तर में यह समझना चाहिये कि जो प्रत्यक्ष सृष्टि-क्रम के विरुद्ध हो, उसे कल्पित मानना चाहिये, और जो प्रत्यक्ष सृष्टि-क्रम के अनुसार हो, उसे सत्य

१—सम्पूर्ण जगत की उत्पत्ति मानने वालों से सद्गुरु श्री कबीर साहेब का पूछना है कि—

"तहिया होते पवन नहिं पानी। तहिया सृष्टि कौन उत्पानी।"

[बीजक]

माननी चाहिये; यही निर्णय का स्वरूप है। जब आज बिना माता-पिता के मनुष्य की उत्पत्ति नहीं दिखती, तब कैसे मान लिया जाय कि पहले बिना माता-पिता के केवल शून्यसे या बन्दर आदि से मनुष्य हुए होंगे। निराकार-शून्य से जब आज किसी नये जगत् की उत्पत्ति होते नहीं दिखती एवं पूर्व-पूर्व में भी कभी कोई नहीं देखा, तब कैसे मान लिया जाय कि शून्य से जगत् हुआ है। जब

सृष्टि के आदि में जब पवन-पानी आदि नहीं थे तब किसने, कहाँ से, क्या लाकर सृष्टि बना दिया ?

अविगति की गति का कहो, जाके गाँव न ठाँव।
गुण बिहूना पेखना, का कहि लीजै नाँव।।

[बीजक]

अर्थात्- [सृष्टि-उत्पत्ति विषयक] अज्ञात की बातें ज्ञात सदृश क्या कहते हो ? जिसका कोई स्थायित्व नहीं। धर्म-गुण रहित निराकार, कल्पित कारण-कर्ता की ओर क्या दृष्टि लगाये हो, जिस कल्पित कारण-कर्ता का नाम लेते हो, उसकी परिभाषा क्या है ?

कबीर दुनिया न हती, तब रह्यो एक भगवान।
जिन यह देखा नजर भरि, सो रह्यो कौन मकान।

(कबीर परिचय)

उत्पत्ति-प्रलय-रहित जगत् नित्य दिखता है, तब इसकी उत्पत्ति प्रलय माने बिना क्यों नहीं शान्ति मिलती ?

विचार करना चाहिये, कोई शून्य निराकार कारण-कर्ता किसको उत्पन्न करता है ? सूर्य, चन्द्र, तारागण एवं पृथ्वी-मण्डल तथा पृथ्वी, जल, तेज, वायु—ये सब तो नित्य बने ही हैं। इनके बनाने वाले की कल्पना करना आवश्यक नहीं और बादल, वर्षा, छः ऋतु, बीज, वृक्ष वनस्पति, कंकड़, पत्थर, अनेक धातु एवं नाना प्रकार की जड़-सृष्टियाँ—पृथ्वी, जल, तेज तथा वायु इन चार जड़-तत्त्वों के गुण-धर्मादि से एवं ब्रह्माण्डों की स्वाभाविक क्रियाओं से अपने आप होती ही रहती हैं और मनुष्य पशु, अण्डज, उष्मज—चारों खानियों की सृष्टियाँ अविनाशी जीवों के कर्म-वासना-वश होती रहती हैं, यह सबको प्रत्यक्ष है। अतएव इस जड़-चेतनमय सृष्टि की उत्पत्ति के लिये किसी निराकार-साकार कर्ता-कारण की कल्पना आवश्यक ही नहीं है।

ईश्वर-विचार।

यदि कहिये जगत् की सृष्टि के सब काम नियमित देखे जाते हैं। जैसे छः ऋतु, दिन-रात का होना आदि। अतएव इनका नियमन करने वाला कोई कर्ता अवश्य है, क्योंकि जड़ में नियम पूर्वक काम करने का कहाँ ज्ञान

है ? तो यह मानना ठीक नहीं। क्योंकि कर्ता ब्रह्म-ईश्वरादि जो पूर्वपक्षी ने माना है, वह निराकार माना है और निराकार ईश्वर तथा साकार जड़ तत्त्वों का सम्बन्ध होना युक्ति से तथा पूर्वोक्त वेदान्त के प्रमाण से असिद्ध हो चुका है।

फिर निराकार ईश्वर साकार जड़तत्त्व एवं जड़-ब्रह्माण्डों का कैसे नियम पूर्वक चला सकता है ? यदि कर्ता को साकार मान लिया जाय, तो एकदेशी मानना पड़ेगा और एकदेशी कर्ता भी सम्पूर्ण ब्रह्माण्डों एवं जड़ तत्त्वों को नियम पूर्वक नहीं चल सकता। यदि कहिये जैसे राजा एक स्थान पर रहकर देश भर के मनुष्यों को नियम पूर्वक चलाता है, वैसे कर्ता-ईश्वर भी एक देश में रहकर सूर्य, चन्द्र अनन्त तारागण एवं पृथ्वी आदि को चलाता है तो यह कहना भी ठीक नहीं होगा। क्योंकि मनुष्य चेतन होने से राजा के कानून एवं आज्ञा को मानकर ठीक-ठीक चलते हैं परन्तु तत्त्व एवं ब्रह्माण्ड जड़ होने से ईश्वर की आज्ञा तथा नियम को तो जान-मान नहीं सकते। अतएव साकार ईश्वर-द्वारा भी जगत् का नियमन (शासन) मानना अयुक्त-कथन है।

जड़-सृष्टि के सब काम नियम पूर्वक ही हैं, ऐसी भी बात नहीं है। जल के बिना खेती नष्ट होने लगती है, परन्तु जल-वृष्टि नहीं होती या इतनी जल-वृष्टि हो जाती है कि

खेती की महान हानि हो जाती है। तत्त्वों में ठीक योग्यता रहने से उत्तम जल की वृष्टि और शीत-धूप आदि की सामान्यता रहती है। तत्त्वों की अयोग्यता हो जाने से वर्षा, शीत, धूप आदि में विषमता हो जाती है। तत्त्व तो जड़ हैं, उन्हें क्या ज्ञान है कि हमारे द्वारा किसी को कष्ट हो रहा है या सुख हो रहा है। अतएव सृष्टि के सब व्यवहार नियमित भी नहीं है।

जड़ तत्त्वों में नियम न हों, यह भी बात नहीं है, क्या जल में उष्ण एवं प्रकाश धर्म आ सकते हैं, क्या अग्नि से कभी वर्फ की उत्पत्ति हो सकती है? क्या कभी सूर्य प्रकाश को त्याग सकता है, क्या कभी वायु कोमलता त्याग सकता है? कदापि नहीं। यह तत्त्वों के अटल नियम ही तो हैं। अतएव अनादि चार जड़तत्त्वों में तथा अनादि सूर्य,चन्द्रादि एवं पृथ्वी मण्डल आदिमें धर्म, गुण, क्रियादि स्वाभाविक होने से छः ऋतु, दिन-रात आदि नियमित होते रहते हैं, और जड़ तत्त्वों की अयोग्यता होने से तथा उनमें चेतना न होने से एवं हानि-लाभ के ज्ञान से रहित होने से वर्षा, शीत, धूपादि में अनियम भी हो जाता है।

"ईश्वर पानी भर के गिराता नहीं है।
जड़ भी हुकुम को बजाता नहीं है॥

नफा और नुकसान का है न ज्ञाता।
कहीं सूख जाता कहीं बाढ़ आता॥"
(न्यायनामा)

'जब तक शरीर में जीव है, तब तक शरीर स्थिर है, और तभी तक उसकी सब नस-नाड़ियाँ चलती हैं, रक्त का संचार होता है तथा शरीर की सभी व्यवस्थायें ठीक हैं। उसके निकल जाने पर शरीर नष्ट हो जाता है। इसी प्रकार इस विश्व में यदि ईश्वर या ब्रह्म व्याप्त न हो, तो वायु और जल का बहना, अग्नि का प्रकाशना, पृथ्वी का विविध वस्तुओं का उत्पन्न करना, तथा धारण करना, सूर्य, चन्द्र, तारादिकों का परिभ्रमण करना, छः ऋतु होना आदि—सम्भव ही न हो।'

उपर्युक्त तर्क में कोई सार नहीं है। पहली बात तो जड़-चेतन का ठीक भेद न जानने से ऐसी शंका होती है। जब यह जान लिया जायगा कि चेतन में जैसे चैतन्य गुण-धर्म हैं, उसी प्रकार जड़ में उसके गुण-धर्म हैं, तब जगत की स्वतः स्थिति समझने में आजायगी।

जीव देह धारण करता है, उसको चलाता है और एक दिन उसके निकल जाने से, देह नहीं चलती वह नष्ट हो जाती है। यह घटना जगत और ईश्वर के विषय में नहीं देखा जाता। अर्थात् ईश्वर संसार को धारण करके उसे चलाता हो, और उससे निकल जाता हो, तब जगत मिट

जाता हो, यह बात न प्रत्यक्ष सिद्ध होती है, न विवेक से। इसके अतिरिक्त जीव तो अल्पज्ञता-वश कर्म करके और उसकी वासनाओं के अधीन होकर देहोपाधि को धारण करता है, परन्तु सर्वज्ञ-सर्वशक्तिमान ईश्वर किस लिये संसार को धारण करता है। वह कौन से कर्मफल-भोग के लिये इतने बड़े प्रपंच में जकड़ा पड़ा है।

ईश्वर सर्वत्र व्याप्त है तब तो वह कहीं आ-जा सकता नहीं। जीव के देह से निकल जाने के समान ईश्वर को संसार से निकल कर पृथक् जाने की सन्धि ही नहीं है, फिर तो जगत का कभी प्रलय होना ही नहीं चाहिये। जीव के विद्यमान रहते तक जब शरीर का नाश नहीं होता, तब ईश्वर के सर्वत्र विद्यमान रहने पर भी जगत का प्रलय कैसे हो सकता है? जब प्रलय नहीं हो सकता, तब उत्पत्ति मानना केवल भ्रम ही है। उत्पत्ति वाली वस्तु का ही प्रलय होता है और प्रलय वाली वस्तु की ही उत्पत्ति होती है।

पहला प्रश्न तो यह है कि ईश्वर संसार बनाने के बखेड़े में पड़ा ही क्यों? जीवों के हित के लिये नहीं कह सकते। क्योंकि इस सृष्टि में पड़कर जीवों का कोई हित नहीं है। दुःखों से सर्वत्र त्राहि-त्राहि मचा है। शास्त्र भी संसार को 'दुःखालयम्' ही कहते हैं। संसार से सर्वथा मोक्ष पाने के लिये ही सर्व ज्ञानियों का प्रयास और उपदेश है।

पहले गड्ढा बनाकर उसमें बच्चों को डाल दिया जाय, फिर रस्सी डाल कर उन्हें निकाला जाय, यह कोई बुद्धिमानी नहीं। इसी प्रकार पहले जगत-गड्ढा को बनाकर उसमें सब जीवों को डालना और पुनः वेद, बाइबिल एवं कुरान रूपी रस्सी को पकड़ा कर उन्हें निकालने का प्रयत्न करना, यह विवेक का द्योतक नहीं है।

जीवों के कर्मफल भोग के लिये जगत बनाया—यह कहना भी समीचीन नहीं। जब जगत था ही नहीं तब जीव के शरीर और कर्म करने के साधन एवं प्रयोजन ही कहाँ थे। जब जीव के पास कोई शुभाशुभ कर्म ही नहीं थे, तब उन्हें फल देने का प्रसंग कैसे आसकता है?

यदि इस सृष्टि के पहले भी कभी सृष्टि थी, उसमें किये हुए जीवों के कर्मों के फल, भोग से अवशेष थे, उसी को भोगाने के लिये यह जगत रचा, तो पहले वाली ही सृष्टि क्यों बनायी थी? यदि सृष्टि प्रवाह रूप अनादि है, तो क्या उसका ओर-छोर ईश्वर भी नहीं जानता? पानी के बहने के समान क्या ईश्वर भी अनिश्चित दिशा में बहता चला जाता है। क्या उसका कोई उद्देश्य नहीं रहता?

पूर्णकाम ईश्वर के साथ इतने बड़े सृष्टि-प्रपंच की संगति बैठ नहीं सकती। जब वह पूर्णकाम है, फिर प्रपंच

क्यों रचता है, ? सृष्टि में जीवों का किंचित भी हित नहीं है, यह विवेक से देख लिया गया है।

'यदि ईश्वर जगत न बनाये, तो उसके गुणोंका विकास कहाँ हो, उसे कौन जाने ! अतएव अपनी कारीगरी दिखा कर लोगों को चकित करने के लिये, लोगों से अपनी उपासना करवा कर उनको स्वर्ग या मुक्ति देने के लिये और अपने गुणों का प्रदर्शन करने के लिये ईश्वर सृष्टि रचता है।' इस युक्ति में कोई बल नही है। उसके गुणों का प्रदर्शन न हो, उसे कोई न जाने, तो उसकी क्या हानि होगी ? कीचड़ लगाकर फिर धोना कोई बुद्धिमानी नहीं। सब जीवों को सृष्टि रूपी दुःख देखकर फिर पिछे से अपनी उपासना करवा कर उनको सुख देना यह कोई बुद्धिमानी एवं पूर्णकाम पुरुष के लक्षण नहीं।

'शास्त्र कहते हैं 'लोकवत्तु लीला कैवल्यम्' जैसे लोक में देखा जाता है कि राजा को पहाड़ पर जाने का कोई प्रयोजन नहीं, वह केवल लीला के लिये जाता है। इसी प्रकार यद्यपि सृष्टि रचने में ईश्वर का कोई प्रयोजन नहीं, परन्तु वह केवल लीला के लिये रचता है।' यह युक्ति भी सर्वथा निर्बल है। क्योंकि लीला वह करता है, जो असन्तुष्ट हो। जिसका समय न कटता हो, वह अपने मन को बहलाने के लिये लीला करता है। पूर्णकाम पुरुष लीला

नहीं करता। और वह लीला कैसी जिसमें सबकी दुर्दशा हो। 'चिड़िया का जी जाय, लड़कों का खिलौना।' सृष्टि में पड़ कर सब जीव तो दुःखों में भूने जाते हैं, और उसे लीला सूझी है।

यदि ईश्वर की सत्ता है और वह सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान एवं दयालु भी है; और वही जगत बनाया है, तो उसको जगत ऐसा बनाना चाहिये था जो सर्वत्र सुख और सुबुद्धि से पूर्ण होता। यह नहीं कह सकते कि केवल सुख-ही-सुख पाने से सब जीव प्रमादी हो जाते। जब ईश्वर सर्वत्र, सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान है, तब वह ऐसी प्रेरणा करता कि जीव में कुबुद्धि होती ही नहीं।

किसी की कारीगरी की तभी प्रशंसा होती है, जब उससे लोगों का हित हो। इस सृष्टि से तो किसी का हित नहीं दिखता, सब जीव दुःख झेल रहे हैं। शास्त्र एक स्वर से सृष्टि को दुःख रूप पुकार रहे हैं। प्रमादी के लिये संसार में केवल सुख है, साधारण मनुष्य के लिये सुख-दुःख दोनों हैं; परन्तु विवेकवान के लिये सृष्टि केवल दुःखों से ही पूर्ण है। 'सर्वमेव दुःखम् विवेकिनः' (योगदर्शन)

दुःख न हो, तो सुख का महत्त्व ही क्या ? प्यास न लगे तो पानी में मिठास ही नहीं प्रतीत होगी—यह तर्क भी व्यर्थ है। रोग बना-बनाकर दुःख दिया जाय, फिर दवाई

करके सुख दिया जाय यह कौन बुद्धिमानी है ? यदि रोग न हो तो नीरोग होने का सुख कहाँ मिले—क्या यह तर्क विवेक-सम्मत हो सकता है ? कौन रोग बना कर उससे नीरोग्यता का सुख चाहेगा ?

लोग ईश्वर को सृष्टि का उत्पत्ति, पालन एवं संसार-कर्ता सिद्ध करते हैं। परन्तु विवेक से यह बात ठीक नहीं जँचती। क्योंकि उदाहरणस्वरूप नर-मादा तथा योग्य भूमिका आदि की योग्यता करके हिंसकी मांसाहारी मनुष्य बकरी, मुर्गी, सूअर तथा मछली आदि की सृष्टि-वृद्धि करते हैं। फिर उनका पालन करते और पुनः अपनी जीविका तथा पेट के स्वार्थ-वश उन प्राणियों का संहार करते, अर्थात मार कर खाते हैं।

ईश्वर—जो संसार का उत्पत्ति-पालन-संहारकर्ता है। उसमें उसका क्या हेतु है ? क्योंकि वह तो पूर्णकाम है। फिर निष्प्रयोजन ही,वह यह निर्दयता का कार्य क्यों करता है ? यदि उत्पत्ति-पालन-संहार का कार्य न करके, सब जीवों को ईश्वर मुक्त कर दे, तो उसकी क्या हानि हो जाय ?

ईश्वर जब सर्वत्र व्यापक है, तब सब जगह है। सब जगह होने से, सबकी भलाई-बुराई देखता है। वह सबके पाप-दोषों को जानता है, क्योंकि वह सर्वज्ञ भी है। फिर

वह जीवों को पाप कर्मों के करने से रोकता क्यों नहीं ? यदि कहिये पाप करते समय जो मन में भय होता है, वही ईश्वर की ओर से रोकना है; तो यह तो आप की केवल मान्यता है। सच बात तो यह है कि मनुष्य के हृदय में शुभ और अशुभ—दो प्रकार के संस्कार होते हैं, वे अपने ही बनाये रहते हैं। अशुभ-संस्कार पाप करने के लिये प्रेरणा करते हैं, और शुभ संस्कार पापकर्मों से भय उत्पन्न कराके पुण्यकर्मों की ओर प्रेरते हैं। 'भूलावेग न्याय' शुभाशुभ-संस्कार अपने ही बनाये कूक हैं।

पापकर्मों के करने में जो भय उत्पन्न होता है उसे यदि ईश्वर की ही प्रेरणा मान लें, तो उस प्रेरणा के अनुसार पापकर्मों से जीव रुकता क्यों नहीं ? ईश्वर को तो सर्व-शक्तिमान सिद्ध करते हैं, फिर बलपूर्वक जीवों को क्यों नहीं पाप से रोकता ?

बुरे कर्म से वर्जता क्यों नहीं है ?
न माने तो फिर गर्जता क्यों नहीं है॥
बुरे कर्म से रोक सकता नहीं है।
कहां दण्ड दाता जो सोता कहीं है॥
अपने कर्म को सुधारोगे भाई।
तुम पर जुर्म है न ईश्वर खुदाई॥

(न्यायनामा)

एक साधारण बुद्धिमान मनुष्य भी अपने बच्चों को

पापकर्मों से बलपूर्वक रोकता है। एक साधु भी संसार के सारे जीवों का हित चाहता है। फिर ईश्वर यदि दयालु, सर्वज्ञ, सर्वत्र तथा सर्वशक्तिमान है, तो वह सब जीवों की बुद्धि क्यों नहीं शुद्ध कर देता; सबको बन्धनों से क्यों नहीं छुड़ा देता ? यदि सबकी बुद्धि शुद्ध करके सब जीवों को ईश्वर मोक्ष दे दे; तो उसकी क्या हानि हो जायगी ? सर्वशक्तिमान होने से कर तो सकता ही है।

यह नहीं कह सकते कि 'ईश्वर सबको स्वतन्त्र कर दिया है कि जैसा करोगे, वैसा भरोगे।' क्या अबोध बच्चों को माता-पिता आग, कुआँ एवं गड्ढे में गिरने से बलपूर्वक बचाते नहीं ? पाप कर्म करके अपना ही अहित करने वाले जीव क्या अबोध बालकवत् नहीं हैं ?

हिन्दू कहते हैं ईश्वर का बनाया वेद है। मुसलमान कहते हैं ईश्वर का बनाया कुरान है तथा ईसाई कहते हैं कि ईश्वर की वाणी बाइबिल है। यदि ईश्वर एक है, तो कानून की डायरी भी एक ही होनी चाहिये। फिर विरोधी ग्रन्थ क्यों बनाया ? एक राजा के राज्य में एक ही कानून होता है। यदि कहिये देश-परिस्थिति के अनुसार बनाया, तो यह क्यों नहीं लिख दिया कि भारत के लिए वेद है, अरब आदि के लिये कुरान है तथा अन्य पश्चिमी देशों के लिये बाइबिल है।

फिर इन वेदादि के कानून सर्वत्र चलते भी नहीं।

एकदेशी अल्पज्ञ राजा का बनाया कानून तो राज्य भर में चले और सर्वदेशी, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान ईश्वर का बनाया कानून न चले, यह कैसे हो सकता है ?

ईश्वर का नाम लेकर हिन्दू-मुसलमान तथा यहूदी-इशाई आपस में लड़ाई करके अनेक बार रक्तपात करते रहते हैं, फिर भी ईश्वर आकर नहीं कहदेता कि मैं सबका मालिक हूँ, तुम लोग आपस में क्यों लड़ते हो ?

ईश्वर और धर्म के नाम पर कितने ही बार ईशाई, यहूदी तथा मुसलमानों को;मुसलमान,हिन्दुओं को सहस्रों की संख्या में मौत के घाट पर उतारा है। ऐसी स्थिति में ईश्वर क्यों न आकर सबको बता दिया कि मैं सबका कर्ता एक हूँ; तुम लोग आपस में मत लड़ो। उसके नाम पर मनुष्य परस्पर कटते रहते हैं, और वह बैठा-बैठा देखता रहता है।

इन विचारों से देखा गया कि जब ईश्वर की सत्ता ही नहीं सिद्ध होती, तब उसका जगत बनाना मनुष्यों की कल्पना-ही-कल्पना है। ईश्वर ने मनुष्यों को नहीं बनाया है, प्रत्युत मनुष्यों ने ही अपनी कल्पना से ईश्वर को बना रखा है[1]। ईश्वर न सिद्ध होने से यदि जगत अनादि है,

---

१—ईश्वर के विषय में बहुत से विवेचन करने यहाँ इसलिये छोड़ दिये गये हैं कि वे सब परिशिष्ट में डा० श्री सम्पूर्णानन्द जी के प्रमाण में विस्तार से आगये हैं।

तो जीवों के कर्म-फल-दाता कौन है ? इस पर एक अन्य सन्दर्भ में आगे विचार किया जायगा।

एक द्रव्य से जगत् या तत्त्वों की उत्पत्ति मानना समीचीन नहीं।

किसी सूक्ष्म पदार्थ से स्थूल विराट पृथ्वी, जल आदि नहीं उत्पन्न हो सकते। जैसे एक पाव चावल से हजार मन भात नहीं हो सकता। यह मान्यता भी समीचीन नहीं कि 'जैसे बट के सूक्ष्म बीज से वृक्ष अरबों गुणा अधिक बड़ा हो जाता है, वैसे ईथर आदि सूक्ष्म पदार्थों से चार तत्त्वादि जगत हो गया, क्योंकि यदि विराट पृथ्वी, जल, तेज, वायु के समूह न हों, तो बीज से बड़ा वृक्ष होगा ही नहीं। वहाँ तो बीज का स्वभाव लेकर चार तत्त्व ही वृक्षाकार होते हैं।

विराट जगत बनने के लिये पदार्थों की आवश्यकता होनी चाहिये। बिना पदार्थ के विराट जगत् कैसे बन गया ? सदैव कारण बड़ा होता है और कार्य छोटा। परन्तु पूर्वपक्षी-द्वारा जितने कारण-कर्ता माने गये हैं सब शून्य, वचन मात्र हैं और जगत् प्रत्यक्ष विराट दृश्य-मान है। जैसे कोई आकाश से फूल, बालू से घी की उत्पत्ति माने, वैसे ही एक अदृश्य कारण-कर्ता से पूर्वपक्षी जन जगत की उत्पत्ति मानते हैं।

कल्पित प्रधान, प्रकृति एवं महत्तत्त्वादि से आकाश की उत्पत्ति मानना शून्य से शून्य की उत्पत्ति मानना है। सत, रज, तम की साम्यावस्था को प्रधान और उसकी विकृति-अवस्था को प्रकृति कहते हैं। परन्तु सत्, रज, तम तो गुण हैं, फिर गुणी-द्रव्य क्या है ? गुणी का पता ही नहीं, केवल गुणों से ही जगत्-उत्पत्ति की कल्पना करते हैं। आकाश से वायु की उत्पत्ति मानते हैं। विचार करना चाहिये आकाश शून्य या पोल मात्र है। न उसमें परमाणु हैं न क्रिया, फिर उससे पदार्थ रूप वायु कैसे उत्पन्न हो सकता है ? आकाश-पोल में वायु आदि तत्त्वों के परमाणु गमनागमन करते हैं, यह कहना ठीक है।

यदि अग्नि, वायु का कार्य होता तो अग्नि भी वायु रूप होता। वायु कोमल, अदृश्य, स्पर्श-शब्द इन दो गुणों वाला है; परन्तु अग्नि उष्ण, साधन-द्वारा दृश्य-मान् रूप गुण वाला है। फिर वायु का कार्य अग्नि कैसे माना जा सकता है। वायु के कार्य तो आँधी-बवण्डर आदि हैं, वस्तुओं को तोड़ने-जोड़ने में बल देना, गिराने-उठाने, आकर्षण करने आदि में वायु की ही प्रधानता है।

यदि अग्निसे जल की उत्पत्ति हुई होती, तो जल अग्नि रूप होता। अग्नि तो गर्म एवं प्रकाश धर्म युक्त है और रूप गुण वाला है; परन्तु जल अत्यन्त शीतल प्रकाश-

रहित रसगुणयुक्त है। जब अग्नि-वायु आदि के एक भी धर्म-गुण जल में नहीं हैं, तब कैसे मान लिये कि वायु या अग्नि से जल की उत्पत्ति हुई है ?

इसी प्रकार जल से पृथ्वी की उत्पत्ति मानना भी सर्वथा विषम है। जल शीतल-धर्मयुक्त रसगुण वाला द्रव पदार्थ है। परन्तु पृथ्वी कठोर धर्मयुक्त गन्ध गुण वाली ठोस पदार्थ है। फिर जल से पृथ्वी की उत्पत्ति विवेकवान् कैसे मान सकते हैं ?

इसी प्रकार पृथ्वी से जल, अग्नि, वायु भी नहीं उत्पन्न हुए हैं। क्योंकि चारों तत्त्वों के गुण-धर्म और आकारादि परस्पर सर्वथा भिन्न हैं। अपने कारण से कार्य विरोधी गुण-धर्म वाला नहीं हो सकता; फिर इन तत्त्वों को परस्पर कारण-कार्य बतलाना कितना विपरीत कथन है ? क्योंकि चारों महाभूतों के गुण-धर्म परस्पर भिन्न हैं।

'सर्वप्रथम चारों तत्त्वों के परमाणु बिखरे हुए भिन्न-भिन्न थे। उस समय उनमें संव्यूहन की शक्ति नहीं थी; अर्थात एक में एक मिलकर वे जगत के रूप में नहीं बन सकते थे। पीछे से यह शक्ति उन्हें प्राप्त हुई, तब वे जगत के रूप में आये'—यह कहना केवल कल्पना ही तो है और यह कल्पना दोषपूर्ण भी है।

वह दोष यह है कि चारों तत्त्वों के परमाणु निरन्तर क्रियाशील, षट्भेदों से सम्पन्न, सृष्टि उत्पन्न करने में निरन्तर सबल प्रत्यक्ष दिखते हैं। फिर वे अपने स्वाभाविक गुण-धर्मादि षट्भेदों को त्यागकर स्थिर कैसे रह सकते हैं ? पहले स्थिर रहे, तब पीछे से उनमें कौन क्रिया उत्पन्न करदी ? किसने शक्ति डाल दी ? गुणी को छोड़कर गुण कहाँ जा सकता है ?

सृष्टि-उत्पत्ति की अनन्त शक्तियों से सम्पन्न सब समय सबको प्रत्यक्ष, इन चारों महाभूतों को हम ज्यों-के-त्यों क्यों नहीं स्वीकार करते ? प्रत्यक्ष लड्डू छोड़कर, कल्पना का लड्डू हम क्यों खाना चाहते हैं ?

प्रत्यक्ष जड़-चेतन के अतिरिक्त, जगत् के कारण-कर्ता नहीं

प्रत्यक्ष जड़-चेतन को छोड़कर जगत् के कर्ता-कारण यदि अन्य हैं, तो उनका कारण कौन है ? यदि उनका कारण कोई अन्य है, तो उनका भी कारण कौन है ? इस प्रकार कार्य-करण की शृंखला की कल्पना करने पर कहीं स्थिरता नहीं होगी। मूल का भी मूल नहीं होता, ऐसा शास्त्र भी कहते हैं। जड़-चेतन का कारण दूसरा जड़-चेतन मानना समीचीन नहीं।

जब कहीं किसी वस्तु को अनादि स्वतः सत्य मानना पड़ेगा, तब मनगढ़न्त अदृश्य, परोक्ष, कर्ता-कारण की

कल्पना क्यों की जाय? पृथ्वी, जल, तेज, वायु—ये चार जड़तत्त्व और अगणित अविनाशी चेतन जीव—इन पाँच मूल पदार्थों के सहित जगत् जैसे प्रत्यक्ष दिखता है, वैसे ही उसको स्वतः अनादि क्यों न मान लिया जाय? जिससे सब बेढङ्गी कल्पनाओं का अन्त हो।

बीज-वृक्ष न्याय जगत् अनादि।

पहले बीज है कि वृक्ष? स्त्री है कि पुरुष? कर्म है कि देह? मुर्गी है कि अण्डा? इनमें कोई पहले-पीछे कहते नहीं बनता। क्योंकि ये जोड़े परस्पर एक के बिना दूसरे नहीं हो सकते। अर्थात् बिना बीज के वृक्ष नहीं और बिना वृक्ष के बीज नहीं। स्त्री-पुरुष दोनों के रहे बिना अन्य स्त्री-पुरुष नहीं। कर्म के बिना देह नहीं, देह के बिना कर्म नहीं। अण्डे के बिना मुर्गी नहीं और मुर्गी के बिना अण्डा नहीं। इस प्रकार प्रवाह रूप जगत् अनादि है।

आम, कटहल, गेहूँ, चने आदि के बीज जब प्रथम नहीं थे, तब बीच में कैसे हो गये? यदि बीच में बनने का कोई हठ करे, तो उससे कहना है कि गेहूँ-चने आदि के जितने बीज-वृक्ष आज हैं, उनको छोड़कर एक-दो नये बीज क्या वे बना सकते हैं? जब नये बीज-वृक्ष नहीं बना सकते, तब पहले बीज बने होंगे, ऐसा कहना केवल हठ नहीं और क्या है? बिना बीज के वृक्ष नहीं होता, बिना वृक्ष

के बीज नहीं होता। इस प्रकार ये दोनों अनादि-नित्य हैं। इनका बीच में आरम्भ कहना समीचीन नहीं।

आधुनिक जड़-विज्ञानियों को यह अभिमान है कि मैं वही सिद्धान्त मानता हूँ जो प्रयोग-द्वारा प्रत्यक्ष कर लेता हूँ। यहाँ पर पूछना है कि किसी विज्ञानी-विकासवादी ने अपनी प्रयोगशाला में सूर्य से तोड़ कर पृथ्वी और पृथ्वी को तोड़कर चन्द्रमा बनाया है और बिना जल, वायु, मिट्टी के केवल आग से इन जलादि की उत्पत्ति की है तथा किसने बन्दरों से मनुष्य बनाया या बनते देखा है? और बिना किसी आधार के किसने नया बीज उत्पन्न किया है? जब ऐसा नहीं कर सके हैं, फिर इस सिद्धान्त को क्यों माना है? वास्तविक बात तो यह है कि सृष्टि उत्पत्ति के जहाँ तक कथन हैं, सब कल्पित हैं। जड़-चेतन-मय यह प्रत्यक्ष जगत जैसे आज है वैसे अनादिकाल से था और ऐसे ही अनन्तकाल तक रहेगा।

विज्ञान के सैकड़ों तत्व पृथ्वी आदि चार तत्वों के भीतर हैं।

विज्ञान के मतानुसार विश्व में सैकड़ों तत्त्व हैं। परन्तु विवेक करके देखा जाय तो पृथ्वी, जल, तेज तथा वायु इन चारों तत्त्वों से पृथक वे नहीं हैं। क्योंकि पृथ्वी, जल, तेज,

वायु में क्रम से कठोर, शीतल, उष्ण और कोमल ये चार धर्म तथा गन्ध, रस, रूप और वायु में शब्द, स्पर्श ये पाँच विषय हैं। यही चार धर्म और पाँच विषय के भीतर विज्ञान के माने हुए सैकड़ों तत्त्व हैं। चाहे वे करोड़ों तत्त्व मान लें, परन्तु उपर्युक्त चार धर्म एवं पाँच विषयों से वे पृथक नहीं हो सकते।

जब सैकड़ों तत्त्व हैं, तब सैकड़ों विषय (गुण) भी होने चाहिये और उन विषयों को ग्रहण करने के लिये सैकड़ों ज्ञानइन्द्रियाँ भी होनी चाहिये। परन्तु शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—ये पाँच ही विषय और इन पाँचों विषयों को ग्रहण करने के लिये मनुष्य के आँख, नाक, कान, त्वचा एवं जिह्वा—पाँच ही ज्ञान इन्द्रियाँ हैं। अतएव पृथ्वी, जल, तेज, वायु—ये चार तत्त्व निर्णय से सिद्ध हैं और इनसे पृथक् अगणित चेतन जीव हैं। विज्ञान के सैकड़ों तत्त्वों में रेडियम एक तत्त्व है, परन्तु वह बदल करके सीसा हो जाता है। फिर वह मूल तत्त्व कहाँ रहा!

'विज्ञान के चमत्कार' नामक ग्रन्थ में लिखा है कि—"भौतिक विज्ञान की अनेक गुत्थियों को भी रेडियम ने सुलझाया है एक्स-रे और रेडियम की ईजाद (खोज) के पहले वैज्ञानिकों का खयाल था कि संसार की सभी चीजें लगभग ९० मूल पदार्थों के संयोग से बनी हैं—और

ये मूल पदार्थ एक दूसरे से सर्वथा भिन्न होते हैं। प्रत्येक मूल पदार्थ छोटे-छोटे अणुओं से बना होता है। एकही पदार्थ के तमाम अणु एक से होते हैं। किन्तु वे अन्य पदार्थों के अणुओं से भिन्न होते हैं। प्रत्येक मूल पदार्थ के अणुओं की अपनी निज की विशेषतायें होती हैं। ये अणु किसी भी तरीके से छिन्न-भिन्न नहीं किये जा सकते और न एक पदार्थ के अणु दूसरे पदार्थ के अणुओं में परिवर्तित ही किये जा सकते हैं।

१९ वीं शताब्दी के आखीर तक वैज्ञानिकों का यही विश्वास था किन्तु जब उन्होंने रेडियम का अध्ययन किया, तब उन्होंने आश्चर्य चकित होकर देखा कि रेडियम के अणु कालान्तर में छिन्न-भिन्न होकर मामूली सीसे के कणों में निरन्तर नियम पूर्वक परिवर्तित होते हैं। निस्सन्देह यह जानकारी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण थी। विज्ञान को पहली बार एक मूल पदार्थ का दूसरे मूल पदार्थ में परिवर्तित होने का दृष्टान्त मिला। पारस पत्थर का स्वप्न मानो सच होने को आया। क्योंकि यदि रेडियम के अणु सीसे के अणुओं में परिवर्तित हो सकते हैं, तो बहुत सम्भव है कि अनुकूल परिस्थितियों में लोहे के टुकड़े स्वर्ण में परिवर्तित किये जा सकें।"

(विज्ञान के चमत्कार)

पृथ्वी आदि चारों तत्त्वों में परस्पर न्यूनाधिक संयोग

होकर विविध कार्य-पदार्थ बनने की अनन्त शक्तियाँ हैं। उन विविध कार्य-पदार्थों के भेदों को तत्त्व की संज्ञा देना उनकी एक अपनी परिभाषा है। यों विज्ञान भी जड़-तत्त्वों को तीन विभाग के रूप में मानता है— ठोस, तरल और वाष्प।

सरल समाधान यह है कि अपनी-अपनी बोली-भाषा में चाहे कुछ भी नाम रख लिया जाय। पदार्थों के भेद-प्रभेदों से चाहे सैकड़ों या हजारों तत्त्व मान लिये जायँ; परन्तु वे सब कठोर, शीतल, उष्ण और कोमल— इन चार धर्मों से और शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध — इन पाँच विषयों से पृथक् नहीं हैं। वे सब जड़ हैं। इनमें सृष्टि उत्पन्न होने की स्वभावसिद्ध अनन्त शक्तियाँ हैं। उनसे जगत् की सृष्टि अनादि और अनन्त है।

तत्त्वों में षट् भेद

पृथ्वी, जल, तेज, वायु में छः भेद हैं, जिनके नाम— धर्म, गुण, क्रिया, शक्ति, मेल और आकार हैं। इन षट्-भेदों के हेतु से ही चारों तत्त्व प्रपंच के अधिष्ठान हैं। सरलता के लिये उक्त षट् भेदों को मैं नीचे कोष्टक में देता हूँ।

षट्भेद	पृथ्वी	जल	अग्नि	वायु
धर्म	कठोर	शीतल	उष्ण	कोमल
गुण	गंध	रस	रूप	शब्द और स्पर्श
क्रिया	परमाणु में क्रिया	अर्ध गमन	उर्धगमन	तिरछी गमन
शक्ति	धारणा, गुरुत्वा	रसायन	दाहक	स्नेह
मेल	अन्य तीन तत्त्वों से	अन्य तीन तत्त्वों से	अन्य तीन तत्त्वों से	अन्य तीन तत्त्वों से
आकार	अति स्थूल	स्थूल	सूक्ष्म	अति सूक्ष्म

इस प्रकार एक-एक तत्त्व में छः-छः भेद हैं। तत्त्व अनादि वस्तु हैं। अतः उनमें अभिन्न रूप से रहे हुए उपर्युक्त षटभेद भी अनादि हैं। क्योंकि गुणी एवं धर्मी द्रव्य अनादि, तो उनके गुण-धर्म भी अनादि। अतएव जब चारों महाभूत और उनकी अनन्त शक्तियाँ अनादि से विद्यमान हैं, तब जगत् भी अनादि से क्यों नहीं होना चाहिये ?

तत्त्वों के अनादि षट् भेद से जगत् की स्थिति भी अनादि।

पृथ्वी के परमाणु क्रियाशील हैं, उनमें धर्म-गुणादि षट्भेद विद्यमान हैं। इसलिये अन्य तीन तत्त्वों का आधार लेकर मुख्य पृथ्वी तत्त्व से वृक्ष, वनस्पति, पत्थर, रत्न आदि एवं नाना खनिज वस्तुयें बनती रहती हैं और अन्य तत्त्वों का विरोध पाकर दूसरी ओर परिवर्तित भी होती रहती हैं।

षट्भेदों से ही जल में वाष्प, बादल, बर्फ, पाला, ओला, सबनम् (शीत), लहर, फेन, बुदबुदा प्रवाह रूपसे बनते और बदलते तथा पुनः बनते रहते हैं। अपने षट्भेदों के संयुक्त अन्य तत्त्वों का आधार लेते हुए अग्नि में विद्युत्, गरमी, प्रकाश के आविर्भाव-तिरोभाव प्रवाह

रूप होते रहते हैं। धर्म-गुण-क्रियादि अपने षट्भेदों के संयुक्त वायु नित्य विद्यमान है, इसी से उसमें आँधी-बौंडर का आना, तत्त्वों के परमाणुओं को उड़ाना, जल को सुखाना, शब्द को प्रसारित करना, गन्ध को उड़ाना, अपने स्पर्श-द्वारा वस्तुओं एवं तत्त्वों के परमाणुओं को गतिशील बनाना—इस प्रकार के उसमें कार्य होते रहते हैं। ये सभी प्रपंच अनादि और अनन्त हैं।

ये विराट चारों महाभूत तथा सूर्य, चन्द्रमा, पृथ्वी समुद्र, वायुमण्डल अनादि-अनन्त और अनन्त शक्तियों के भण्डार हैं। सूर्य की किरणें पृथ्वी के जलीय अंशों एवं समुद्र, नदी, कूप, झरना, झील आदि में पड़ती हैं और उनको वाष्प रूप में बदलती हैं वायु के सहारे से ऊपर उड़ाती हैं। यह परम्परा अनादिकाल से ही चली आयी है। इसीसे आकाश में सूक्ष्म वाष्प रूप से जल-चक्र अनादिकाल से ही प्रवाह रूप स्थित है।

वही अग्नि के परमाणु एवं गरमी पृथ्वी के जल को वाष्प बनाकर वायु के सहारे ऊपर ले जाती हैं, और वही गरमी तत्त्वों की अन्य अनुकूल योग्यता पाकर आकाश में स्थित उस वाष्प में गति उत्पन्न कर उन्हें जलके रूप में परिणत करके नीचे गिराती है, जिसे हम पानी बरसना कहते हैं।

अग्नि एवं गरमी वायु को उत्तेजित करती है और वायु-

अग्नि एवं गरमी को प्रदीप्त करता है। तत्त्वों के परमाणुओं को समेट कर जल पिण्ड बाँधता और पृथ्वी के परमाणु गति करके वस्तु रूप में आ जाते हैं। यह सब चारों महाभूतों के स्वभाव हैं। ऐसे अनादि काल से प्रवाहित हैं और अनन्त काल तक प्रवाहित रहेंगे।

इन चारों महाभूतों के षट्भेदों एवं स्वभाव को ही आप प्रकृति, नेचर आदि कह सकते हैं। जगत्-प्रपंच के अनन्तों पदार्थों के प्रवाह रूप निर्माण और परिवर्तन में ये ही अनन्त स्रोत हैं। तत्त्वोंके षट्भेद रूप इन्हीं अनन्त शक्तियों से भूचाल आना, पानी बरसना, ओला-पाला बनना तथा छः ऋतुओं का परिवर्तन होना लगा रहता है।

जड़-चेतन—दोनों भिन्न और अनादि।

जड़ (चार) तत्त्वों से न चेतन जीवों की उत्पत्ति हुई है और अगणित चेतन जीवों से न उक्त तत्त्वों की उत्पत्ति हुई है। क्योंकि चेतन जीवों के लक्षण न जड़ तत्त्वों में हैं और जड़ तत्त्वों के लक्षण न चेतन जीवों में हैं।

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु के क्रमशः कठोर, शीतल उष्ण और कोमल धर्म हैं। परन्तु चेतन जीवों में इन धर्मों में का एक भी नहीं है। उक्त चार तत्त्वों के शब्दादिक पाँच विषय भी चेतन जीवों में नहीं हैं। आँख,

नाक, कान, त्वचा और जिह्वा—ये पाँच ज्ञान करने के साधन हैं। आँख से रूप, नाक से गन्ध, कान से शब्द, त्वचा से स्पर्श और जिह्वा से रस का ज्ञान होता है। छठा न कोई विषय है और न छठी कोई ज्ञान-इन्द्रिय है। अतएव चेतन जीवों में शब्दादिक कोई विषय न होने से उनको इन्द्रियों द्वारा नहीं जाना जा सकता। प्रत्युत वे ही चेतन जीव इन्द्रियों-द्वारा पाँचों विषयों को जानते हैं। चेतन जीवों में केवल ज्ञान-गुण, ज्ञान-धर्म, ज्ञान-शक्ति और ज्ञान-आकार है। ज्ञान के अतिरिक्त उनमें और कुछ नहीं है। अतएव चेतन जीव जड़ से सर्वथा पृथक हैं।

जड़ में भी चेतन के कोई गुण-धर्म नहीं दर्शते। जड़ की शक्तियों से चाहे कितने ही विचित्र पदार्थों की उत्पत्ति देखने में आती हो, परन्तु उनमें चेतना नहीं हो सकती। जहाँ कठोरता है वहाँ पृथ्वी है, जहाँ शीतलता है वहाँ जल है, जहाँ उष्णता है वहाँ अग्नि है और जहाँ कोमलता है वहाँ वायु है। इसी प्रकार जहाँ चेतनता है वहाँ चेतन है। गुण-धर्म-द्वारा ही किसी वस्तु की परख होती है।

जो अन्य से सर्वथा विलक्षण हो, वही पदार्थ नित्य, अकृत्रिम है। वैसे ये जड़-चेतन हैं। ये एक-से-एक सर्वथा विलक्षण हैं। अर्थात् जड़के लक्षण न चेतन में हैं और चेतन के लक्षण न जड़ में हैं।

अनादि सृष्टि के दो प्रकार।

सृष्टि दो प्रकार की है, एक केवल जड़ात्मक और दूसरी जड़-चैतन्यात्मक। षटभेद सहित चार जड़तत्त्वों से उत्पन्न होने वाली वस्तुयें जड़ात्मक हैं। जैसे अनादि विशाल सूर्य, पृथ्वी, चन्द्रादि जड़-ग्रहों की क्रियाओं से छः ऋतुओं का परिवर्तन बादल[1], वर्षा, ओला, पाला, बिजली, भूकम्प नदी-झरनों का बहना, समुद्र का तरंगवान रहना। वायु का गतिशील रहकर वस्तुओं का उड़ाना, तोड़ने-जोड़ने में बल देना। सूर्य का प्रकाशना, जल को सोषण करना, वृक्ष-वनस्पतियों को पुष्ट करना। पृथ्वी में कंकड़-पत्थर, कोयला, चाँदी, सोना, पीतल, हीरा, मणि-रत्नादि तथा शोरा, गन्धक, क्षार, रेह, वृक्ष, वनस्पति आदि का बनना—यह सब केवल जड़ात्मक सृष्टियाँ हैं।

चेतन जीवों की सत्ता से जड़ तत्त्वों से बने कार्य पदार्थ—चार खानियों (मनुष्य, पिण्डज, अण्डज, उष्मज) की देहें तथा देहधारी जीवों-द्वारा बनाये गये घर, घड़ा, यन्त्र, वस्त्र, ग्राम, नगर एवं विविध वस्तुयें—जड़-चैतन्यात्मक सृष्टि है।

अपने-अपने धर्मों से युक्त जड़-चेतन के अनादि होने

१—हेतु कृशानु भानु हिम करके। वर्षा शिशिर धूप इन करके॥
(रामायण)

से उपर्युक्त दोनों प्रकार की सृष्टियाँ भी अनादि हैं। अर्थात् अनादि चार जड़तत्वों के स्वभाव-सिद्ध गुण-धर्मादि षट्भेदों से जड़ात्मक सृष्टि आज के सदृश ही अनादि काल से होती आई है और इसी प्रकार भविष्य में अनन्त काल तक होती चली जायगी।

जड़ से सर्वथा विलक्षण होने से नाना चेतन जीव भी अनादि और अविनाशी हैं। अनादि होने से कर्माभ्यास पूर्वक उनके जन्म-मरण भी अनादि हैं। बीज-वृक्षवत् कर्म से देह तथा देह से कर्म होते हैं। जैसे बीज-वृक्ष में किसी को आदि नहीं कहा जा सकता, वैसे कर्म और देह में भी किसी को आदि कहना न्याय संगत नहीं होगा। अतएव यह जड़ चैतन्यात्मक सृष्टि भी प्रवाह रूप अनादि है।

चेतन जीवों के ऊपर जड़-वासनाओं का आवरण अनादि होतेहुए भी सान्त—अन्तसहित है। अर्थात् विवेक-वैराग्यादि-द्वारा देहादि जड़ पदार्थों की आसक्ति को मिटाकर सदा के लिये जन्म-मरण से जीव मुक्त होकर अपने स्वरूप में स्थित हो सकता है। जैसे बीज-वृक्ष प्रवाह रूप अनादि हैं, परन्तु बीज को आग में सेंक देने से वह पुनः नहीं उगता। इसी प्रकार कर्म-देह प्रवाह रूप अनादि होने पर भी, विवेक-वैराग्यादि-द्वारा कर्मबन्धनों को तोड़ देने पर जीव जन्मादि से मुक्त हो जाता है।

जीव ज्ञान स्वरूप है, जन्मादिक हेतु रूप विषयासक्ति को दुःख रूप जानकर उसका अभाव कर सकता है। प्रत्यत्न ही मनोविकारों का नाश किया जा सकता है। जीव के स्वरूप में जड़-वासनायें नहीं हैं,इसी से विवेकादि-द्वारा उनका नाश होता है। जड़-वासना ही बन्धन है और वासना मानन्दी मात्र है, जीव मानन्दी (अहन्ता-ममता) को त्यागने में स्वतन्त्र है। इसीलिये वासनाओं को त्याग-कर जीव मुक्त हो सकता है। मुक्त तो कोई सुज्ञ जीव होंगे, अन्य असंख्यों जीव आज के सदृश ही भविष्य में भी अपनी सृष्टि रचते रहेंगे।

यह प्रश्न हो सकता है कि मुक्त होते-होते यदि किसी समय सब जीव मुक्त हो जायँ, तो क्या होगा ? उत्तर में समझना चाहिये कि यह असम्भव-सा है। यदि कल्पना किया जाय कि "ऐसा हो ही जायगा" तो भी कोई हानि नहीं। जड़-चैतन्यात्मक सृष्टि स्थगित हो जायगी, परन्तु केवल जड़ात्मक सृष्टि अनन्तकाल तक चलती रहेगी।

जीव ज्ञान स्वरूप है, जन्म-मरण एवं देहोपाधि में दुःख समझकर और वासनाओं को त्यागकर वह अपनी सृष्टि मिटा सकता है। परन्तु पृथ्वी आदि तत्त्व तो जड़ हैं, उनको न सुख-दुःख है न हानि-लाभ। उनमें तो स्वभा-विक गुण-धर्म हैं, जिससे सृष्टि प्रवाहरूप अनादिकाल से

चलती हुई अनन्तकाल के लिये अविराम चली जा रही है।

वृक्ष-वनस्पतियाँ निर्जीव हैं।

नवीन पाठकों को यह शंका हो सकती है कि मनुष्य, पशु, पक्षी, कृमि आदि ही उपर्युक्त प्रसंग में जीवधारी माने गये हैं, वृक्ष-वनस्पतियों को नहीं; यह क्यों? इसके समाधान में किञ्चित् संकेत कर देना अप्रसंगिक न होगा। वृक्ष-वनस्पतियों में जीव की सिद्धि के लिये यद्यपि बहुत बड़ा हो-हल्ला है; परन्तु विवेकवान् किसी बात को इसलिये नहीं मान लेते कि उसका समर्थन बहुत लोग करते हैं और न इसलिये मानते हैं कि वह बड़े-बड़े ग्रन्थों में लिखा है तथा न इसलिये मानते हैं कि उसको कोई प्रतिष्ठित पुरुष कहते हैं। जो विवेक के अनुकूल होता है, वही मान्य हो सकता है।

वासना-वशी जीव जिस खानि में होता है, वहाँ मन तथा इन्द्रियाँ होती हैं। जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति—ये तीन अवस्थायें होती हैं। इच्छा, प्रयत्न, सुख-दुःख एवं हानि-लाभ के ज्ञान होते हैं। यह सब वृक्षों में कुछ भी नहीं हैं। वृक्षों में कलम बाँधकर एक से अनेक वृक्ष लगाये जा सकते हैं। लताओं को काटकर एक से अनेक लतायें तैयार

की जा सकती हैं। परन्तु एक प्राणधारी काटकर अनेक प्राणधारी जीव नहीं बनाये जा सकते।

प्राणी कितना ही सुन्दर हो, परन्तु जीव के निकलते ही वह कान्ति-हीन हो जाता है। किन्तु हरे वृक्षों के काट देने पर उनमें से जल के अंश निकलते जाने पर ही क्रमशः सूखते हैं। वृक्ष को काटने जाइये, वह अपने बचने की कोई चेष्टा नहीं दिखलाता। लाजवन्ती के पत्ते का स्वभाव है ठोकर से मुरझा जाना। हवा के झोंके से भी मुरझा जाते हैं। किसी के छूने से वे पत्ते लज्जावश सिकुड़ जाते हैं, यह मनुष्यों की कल्पना ही है।

तेल-बत्ती तथा अग्नि से जैसे ज्योति बनती है, वैसे चारों तत्त्वों के गुण-धर्मों से तथा बीजी असर से वृक्ष-वनस्पतियाँ बनती हैं, कंकड़-पत्थर जैसे छोटे से बड़े हो जाते हैं, वैसे वृक्ष-वनस्पतियाँ भी तत्त्वों के रसायन-स्नेह आदि शक्तियों से बढ़ते, पुष्ट होते रहते हैं। तत्त्वों के बाधक अंश पाकर नष्ट भी हो जाते हैं, उनमें जीव नहीं होते। इस विषय को विस्तार पूर्वक समझने के लिये 'भवयान सटीक' का सप्तम प्रकरण पढ़िये।

जगत् अनादि कैसे ?

कुछ लोगों का तर्क है, कि 'जगत् शब्द का अर्थ ही

होता है जायमान होना और गत होना। अर्थात् बन जाना और मिट जाना। फिर जगत् अनादि कैसे हो सकता है?" यह शंका सत्य सिद्धान्त के अज्ञान से है। इसका सामाधान यह है कि चतुर्महाभूत—पृथ्वी, जल, तेज, वायु एवं विराट ब्रह्माण्ड के नित्य विद्यमान रहने पर ही उसमें उत्पाद-विनाश हो सकते हैं। यदि ब्रह्माण्ड ही न रह जाय, तो उत्पाद-विनाश कहाँ होगा? चारों महाभूत अनादि (नित्य) हैं, उनमें गुण-धर्म भी अनादि हैं। इन चारों महाभूतों में कार्य-पदार्थों के उत्पाद-विनाश भी प्रवाह रूप अनादि हैं।

कुछ लोग तर्क करते हैं, "जैसे छोटे-छोटे कार्य पदार्थों का उत्पाद होकर पुनः समय से उनका विनाश हो जाता है, वैसे विश्व का भी प्रलय होगा?" परन्तु इसका क्या प्रमाण है? यदि चारों महाभूत अपनी-अपनी क्रियाओं एवं गुण-धर्मोंको छोड़कर स्थिर हो जायँ और कोई पदार्थ उत्पन्न न करें, तब तो अनुमान करना भी ठीक है कि कभी विराट विश्व का प्रलय हो जायगा। परन्तु जब नित्य देखते हैं कि करोड़ों-अरबों पदार्थ बिगड़ते हैं, वैसे ही करोड़ों-अरबों पदार्थ दूसरी ओर बनते हैं क्रिया-हीन स्थिर जगत कभी नहीं दिखता; फिर इसको कभी सर्वथा निष्क्रय या शून्यवत हो जाना मानना कितना भ्रम है?

अतएव ये चतुर्महाभूत नित्य ज्यों-के-त्यों रहते हैं; और

उनके गुण-धर्म-क्रियादिकों से उनमें पदार्थों का उत्पाद-विनाश होना वर्तमान-वत सदा लगा रहता है। इस प्रकार जगत अनादि-अनन्त है।

कोई 'जगत' शब्द का तोड़-मरोड़ करके अपने सन्तोषार्थ अपने मत का पोषण भले करले, परन्तु वस्तुतः अनादि जगत की स्थिति का कोई तोड़-मरोड़ नहीं कर सकता।

सारांश—जगत् उसे कहते हैं, जिसमें अनेक पदार्थों का जायमान होना और गत होना अर्थात् उत्पाद होना और विनाश होना सदैव लगा रहता है ।

किसी-न-किसी रूप से प्रायः सभी लोग इस जड़-चेतन मय जगत को अनादि स्वीकार करते हैं; श्रीकृष्ण जी कहते हैं:—

> प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि ।
> विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसंभवान् ॥
>
> (गीता १३।१९)

अर्थात्—प्रकृति (जड़) तथा पुरुष (चेतन) इन दोनों को तुम अनादि जानो। और परिवर्तनशील सम्पूर्ण त्रिगुणात्मक कार्य-पदार्थों को प्रकृति से उत्पन्न हुए समझो।

गोस्वामी श्री तुलसीदास जी भी कह बैठते हैं:—

तात मोह वश सोचिय वादी।
विधि प्रपंच अस अचल अनादी॥
तात अनादि सिद्ध थल येहू।
लोपेउ काल विदित नहिं केहू॥

(रामायण)

अनादि-अनन्त जगत् का प्रलय नहीं।

पृथ्वी, सूर्य, चन्द्रादि में स्वाभाविक अनादि क्रियायें हैं, इसलिये सूर्य के उत्तरायण-दक्षिणायण होने से पृथ्वी के भिन्न-भिन्न भागों पर हर समय वर्षा, शीत, धूप आदि षट्ऋतुएँ बरतती रहती हैं। यह प्रवाह सदा से है और सदा रहेगा। इसलिये आज के सदृश ही भविष्य में भी बीज-वृक्ष, अन्न, साग आदि का तथा प्राणधारियों के जीवनोपयोगी समस्त वस्तुओं का सम्पादन प्रकृति करती ही रहेगी। वर्तमान सृष्टिकी सारी सामग्रियाँ प्रवाह रूप नित्य हैं। इनका सर्वथा अभाव कभी नहीं हो सकता। इसलिये प्रलय मानना भ्रम है।

जड़-सृष्टि में कहीं कोई वस्तु बनती है, कोई बिगड़ती है। वृक्ष-वनस्पति आदि कहीं अंकुरित होते, कहीं वृद्ध होते, कहीं पकते या नष्ट होते; पुनः दूसरी ओर उत्पन्न होते

हैं। नदी-समुद्र का पानी सोषित होकर ऊपर जाता तथा ऊपर से वर्षारूपमें नीचे आता। एक ही कालमें किसी देश में गर्मी, तो किसी देश में ठण्ढी एवं किसी देश में वर्षा है। नाना खनिज वस्तुओं तथा अन्यान्यवस्तुओं का बनना, बिगड़ना तथा पुनः बनना—ये प्रवाह सदैव चला करता है।

इधर जड़-चैतन्यात्मक सृष्टि में एक ही काल में चारों खानियों में बहुत-से जीव जन्म धारण करते, बहुत-से जीव वृद्धि को प्राप्त होते तथा बहुत-से जीवों के शरीर छूटते हैं। यह क्रम जब कभी स्थिर ही नहीं होता, तो समग्र संसार के प्रलय की कल्पना केवल निराधार ही है।

अग्नि का प्रकाशना, वायु का बहना, जल का द्रवना तथा पृथ्वी का अगणित पदार्थों का उत्पन्न करना, सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी आदि का क्रिया करना—ये सब कभी रुकते ही नहीं। सृष्टि-उत्पत्ति-शक्ति को अर्थात् अपने धर्म-गुण-क्रियादि षट्भेदों को छोड़ कर तत्त्व जब सर्वथा स्थिर नहीं होते, तब प्रलय की कल्पना करना कितनी भूल है ?

राग-द्वेष को त्यागकर एवं स्व-स्वरूपस्थ होकर मुक्त तो कोई बिरला जीव होता है। अन्य असंख्य जीव हर समय राग-द्वेष स्वभाव वाले बने हुए पाप-पुण्यादि कर्म करते हुए तथा जन्मते-मरते एवं पुनः जन्मते हुए दृष्टिगोचार हो

रहे हैं। जितने जीव हैं, सबके प्रारब्ध पृथक-पृथक हैं। सबके प्रारब्ध एक ही काल में समाप्त नहीं होते, इसलिये प्रलय मानना व्यर्थ है।

आकाश-विचार

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु—ये चार तत्त्व द्रव्य रूप साकार प्रत्यक्ष हैं, और आकाश निराकार शून्य रूप अद्रव्य है। जो द्रव्य है वह चाहे आँख से दिखे या न दिखे, वह साकार होता है। वायु आँख से नहीं दिखता, परन्तु है साकार पदार्थ। क्योंकि साकार का ही साकार से सम्बन्ध होता है निराकार का साकार से सम्बन्ध नहीं होता। वायु का सम्बन्ध मनुष्य की त्वचा तथा पेड़-तृण आदि से प्रत्यक्ष होता है। यहाँ तक कि बड़े-बड़े पेड़ों को उखाड़ कर फेंक देता है। मनुष्य को ढकेल देता है। तृण-धूल उड़ाता रहता है।

इसी प्रकार चेतन जीव भी निराकार नहीं होता, अर्थात् साकार-ज्ञानाकार होता है। इसीलिये जड़तत्त्व रूप देहादि से जीव का सम्बन्ध होता है। ज्ञान-गुण-युक्त चेतन जीव द्रव्य है। अतः वह निराकार नहीं। जड़तत्त्व जड़ाकार हैं, जीव ज्ञानाकार हैं। यदि जीव का द्रव्य रूप अस्तित्त्व है, तो उसका निराकार होना कैसा? जो द्रव्य

आँख से नहीं दिखता, उसको निराकार कहने की यदि किसी मत को परिभाषा है; तो यह दूसरी बात है।

मुख्यतया यहाँ आकाशपर प्रकाशडालना है। आकाश शून्य को कहते हैं। यह कोई द्रव्य नहीं है। इसीलिये लोग इसे निराकार कहते हैं। द्रव्य न होने से इसमें गुण, धर्म, क्रियादि नहीं हैं। यह केवल अवकाश रूप है। यदि आकाश भी द्रव्य है, तो पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश तथा जीव—इन छहों द्रव्यों के रहने के लिये सातवाँ अद्रव्य आकाश मानना पड़ेगा। अतएव पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा जीव—इन पाँचों के अतिरिक्त आकाश शून्य रूप अद्रव्य है।

आकाश में परमाणु नहीं; अतः इसमें क्रिया भी नहीं। यदि आकाश में शब्द गुण है, तो आकाश अवश्य द्रव्य होगा। यदि वह परमाणु तथा खण्ड-रहित सर्वत्र परिपूर्ण अखण्ड द्रव्य है। तब दूसरे तत्त्व या जीवका अस्तित्त्व कहाँ रहेगा? और प्रत्यक्ष ही पृथ्वी आदि चारतत्त्व तथा अनेक जीवों का अस्तित्त्व है। इसलिये गुण-धर्म-द्रव्य-रहित आकाश-अवकाश मात्र (शून्य) है।

बिना क्रिया के शब्द नहीं होता, और आकाश क्रिया-रहित है। अतएव आकाश का गुण शब्द नहीं हो सकता।

वास्तव में स्पर्श वायु का गुण है, और स्पर्श ही में शब्द[1] होता है। अतः स्पर्श और शब्द दोनों वायु के गुण हैं। महाभारत की अनुगीता में वेदव्यास जी कहते हैं—

'शब्दस्पर्शौ च विज्ञेयौ द्विगुणो वायुरुच्यते।'

अर्थात्—'शब्द-स्पर्श वायु के दो गुण जानने योग्य कहे जाते हैं।'

शब्द वायु का गुण है। वायु में क्रिया होने से शब्द उत्पन्न होता है। शब्द वायुमय है और वायु में ही तरंगित होता है। शब्द साकार है, इसी लिये रेडियो,तार, टेपरेकार्ड आदि साकार यन्त्रों-द्वारा पकड़ लिया जाता है। साकार का साकार से सम्बन्ध होता है। निराकार से साकार का सम्बन्ध नहीं होता, यह ऊपर देख लिया गया है।

"आकाश सर्वत्र है, इसीलिये हजारों मील दूरी अमरीका आदि के रेडियो-स्टेशनों पर प्रसारित किये गये शब्द तुरन्त यहाँ (भारत में) सुन पड़ते हैं। यदि वायु में शब्द तरंगित होता है, तो वायु की गति कितनी है?" इस तर्क में कोई सार नहीं है, जबकि

१— शब्द रहत स्पर्श में, सपरश पवनहिं होउ।
दुइ गुण वायू में रहे, शब्द स्पर्शहिं सोउ॥
(मुक्तिद्वार-३।१०८)

वैज्ञानिकों ने परमाणुओं की चाल प्रति सेकेण्ड एक लाख मील मानी है। इसके अतिरिक्त यदि सर्वत्र आकाश है, तो सर्वत्र वायु भी है। यदि प्रश्न है कि वायु की गति कितनी है, तो वही तर्क होगा कि आकाश कि गति कितनी है। यदि आकाश में गति नहीं, तो उससे गति-शील शब्द की उत्पत्ति मानना केवल भ्रम एवं पक्षपात है।

विद्वन्मूर्ति श्री विचार साहेब बीजक टीका में लिखते हैं—'शब्द नियमतः संयोगज, विभागज और शब्दज हुआ करते हैं। इस कारण—

दो बिन होय न काज कि काजा।
दो बिन होय न अधर अवाजा॥

इस लौकिक आभाणक[1] के अनुसार केवल असंहत चेतन से ऊँकार रूप शब्द की उत्पत्ति कदापि नहीं हो सकती। क्योंकि शब्दोत्पत्ति का यह क्रम है कि—

आकाशवायुप्रभवः शरीरात्समुच्चरन् वक्त्रमुपैतिनादः।
स्थानान्तरेषु प्रविभज्यमानो वर्णत्वमागच्छतियः स शब्दः॥

अर्थात—जब बोलने की इच्छा होती है, तब प्रयत्न विशेष से प्रेरित हुआ नाभिस्त-वायु आकाश से संयुक्त होकर नाद रूप को धारण करता है। अनन्तर ऊपर की ओर जाता हुआ कण्ठादि स्थानों में विभक्त होकर कका-

---

१--कथानक, लोकोक्ति, २–अकेला।

रादि वर्ण-भाव को जो प्राप्त होता है, वह (वायु) शब्द कहाता है।"

कहहु हो अम्मर कासों लागा, इस उन्नासी (७९) शब्द की टीका करते हुए आप कहते हैं--"हे अमर जीव ! तू किस अनात्म-प्रपंच में लगा है। दूसरे पक्ष में--तू अम्बर (आकाश-शून्य) को तत्त्व क्यों समझता है। कहहिं कबीर खोजै असमाना।"

पं० राहुल सांकृत्यायन जी ने वैशेषिक दर्शन पर प्रकाश डालते हुए 'दर्शन-दिग्दर्शन' में लिखा है कि--

"परमाणुओं (=पृथ्वी, जल, वायु, आग के सूक्ष्मतम नित्य अवयव) में जो एक दूसरे से भेद है, उसे 'विशेष' कहते हैं। विशेष सिर्फ नित्य द्रव्यों में रहता है, और वह स्वयं भी नित्य है। इसी विशेष के प्रतिपादन के कारण कणाद के शास्त्र का नाम वैशेषिक पड़ा।"

"द्रव्य—चारों भूतों का जिक्र ऊपर हो चुका है। बाकी द्रव्यों में आकाश, काल और दिशा अदृष्ट हैं, साथ ही वैशेषिक इसे निष्क्रिय भी मानता है। अदृष्ट और निष्क्रिय होने पर वह हैं, इसको कैसे सिद्ध किया जा सकता है--इस प्रश्न का उत्तर आसान नहीं था। वैशेषिक (कणाद) का कहना है--शब्द एक गुण है, जो प्रत्यक्ष सिद्ध है। गुण द्रव्य के बिना नहीं रह सकता, शब्द को किसी और भूत से जोड़ा नहीं जा सकता। इसलिये एक नये

द्रव्य की जरूरत है, जो कि आकाश है। कणाद को यह नहीं मालूम था कि हवा से खाली जगह में रखी घंटी शब्द नहीं कर सकती।"

(दर्शन–दिग्दर्शन पृष्ठ ५९०)

"कणाद देमोक्रितु के मतानुसार बाहर से निरन्तर परिवर्तन होती दुनिया की तह में अचल, अपरिवर्तनशील नित्य परमाणुओं को देखते हैं। पृथ्वी, जल, तेज, वायु ये चारों भूत परमाणु रूप में नित्य हैं। इन्हीं नेत्र-अगोचर सूक्ष्म कणों के मिलने से आँख से दिखाई देने वाले अथवा शरीर के स्पर्श से मालूम होनेवाले स्थूल महाभूत पैदा होते हैं।"

(दर्शन-दिग्दर्शन पृष्ठ ५९३)

'विज्ञान-जगत' नामक पुस्तक से निम्न उदाहरणभी ज्यों-के-त्यों दिये जाते हैं।

"लोग हजारों वर्ष से ध्वनि पर विचार और परीक्षण करते आये हैं। पर पिछले लगभग सौ वर्षों से ही ध्वनि (शब्द) को कुछ तर्क संगत ढंग से समझा गया है। २३०० (तेईस सौ) वर्ष पहले पैदा हुए एक यूनानी दार्शनिक अरस्तू ने ध्वनि की प्रकृति के बारे में एक बढ़िया अटकल लगायी थी। उसने कहा था कि ध्वनि वस्तुओं

से वायु पर चोट लगने से पैदा होती है। जिससे वायु सिकुड़ती और फैलती है।

पर कई शताब्दियों तक इस सिद्धान्त को सच्चा या झूठा सिद्ध करने का कोई प्रयत्न नहीं किया गया। अन्त में उन्नीसवीं शताब्दी में फिर दिलचस्पी पैदा हुई और बहुत-से लोगों ने ध्वनि का अध्ययन और उसके विषय में परीक्षण शुरू किये। जी० एस० ओम, लार्डकेलविन, एच० वान हेल्म होल्टस और अन्य अनेक व्यक्तियों ने ध्वनि की (ध्वनि-विज्ञान के) बहुत-से बुनियादी नियमों पर विचार किया। इसके अतिरिक्त हेल्महोल्टस ने कान से ध्वनि पकड़ने अर्थात् सुनने के बारे में एक व्याख्या पेश की, इस विषय में हम आगे विचार करेंगे।"

वैज्ञानिक कई बात बतलाते हुए कहते हैं--

"जब बल्ला गेंद पर लगता है, तब दोनों के बीच की हवा बाहर हो जाती है। इस क्रिया को बहुत बारीकी से देखिये। जब बल्ला गेंद के पास पहुँचता है, तब उनके बीच की हवा बीच में से हट जाती है। कुछ अन्तिम अणुओं को बहुत तेज चलना पड़ता है। पक्के फर्श पर फैले हुए पानी पर हथौड़ा मारने की क्रिया पर विचार करने से यह बात स्पष्ट हो जायगी। यदि आप पानी के ठहराव पर हथौड़ा मारेंगे, तो पानी छिटककर काफी दूर जायेगा।

नीचे होते हुए हथौड़े से पानी दब जाता है, जिससे वह सब दिशाओं में उछल जाता है।"

"बहुत कुछ इसी तरह बल्ले और गेंद के बीच की हवा के अणु बल्ला गेंद से लगने पर इधर-उधर हट जाते हैं। इन अणुओं के बहुत तेज चाल से चलने के कारण ये अपने से ठीक आगे वाले अणुओं से टकराते हैं। फिर ये अणु अपने से पहले वाले अणुओं से टकराते हैं; और इस प्रकार वे तेज चाल से एक बढ़ते हुए दायरे में एक अणु से दूसरे अणु पर पहुँच जाते हैं। अन्त में वे हमारे कान के हवा-परमाणुओं पर कस कर लगते हैं और तब हमारे कान के पर्दे पर टकराते हैं। जिस पर हमारे कान हमें बताते हैं कि हमने बल्ले और गेंद के टकराने की 'खट' ध्वनि (शब्द) सुनी है। यह सब कार्य अत्यन्त शीघ्रता से होते हैं।"

"पिछले अध्याय में हमने देखा था कि ध्वनि वायु में चलते हुए ऊँची दाब और नीची दाब वाले क्षेत्रोंकी तरंगों की एक श्रेणी है। यदि हम सितार या किसी और तार-वाद्य का तार छेड़ें, तो एक ध्वनि सुनायी देगी। यह ध्वनि तार के कम्पन से पैदा होती है। अर्थात् तार बहुत जल्दी-जल्दी आगे-पीछे चल रहा है। जैसा कि हम इसे गौर से देखकर जान सकते हैं। तार का कम्पन हवा के अणुओं को बार-बार धकेलता है और इस प्रकार ऊँची और नीची दाब

वाले क्षेत्रों को तार से हमारे कान की ओर चलाता है।"

"जब आप 'अ-ह-ह-ह-ह' कहते हैं, तब वह ध्वनि आपके गले के तारों के कम्पन से पैदा होती है। ये तार जो 'वाक्-तन्तु' या 'स्वर-तन्त्री' कहलाते हैं, आपके फेफड़ों से तेजी से आती हुई वायु से कम्पित होते हैं। अर्थात् जब आप 'अ-ह-ह-ह-ह' की आवाज करते हैं, तब गले की कुछ मांस-पेशियाँ वायु को इन 'वाक्-तन्तुओं' के पास से चलाती हैं। तार वाले बाजे के तारों पर फूँक मारकर आप उन्हें कम्पित कर सकते हैं। आपके गले में 'वाक्-तन्तु' जब कम्पन करने लगते हैं, तब वे हवा के अणुओं को धक्का देते हैं। जिससे 'अ-ह-ह-ह-ह' ध्वनि पैदा होती है। इस ध्वनि को वाणी या भाषण में परिवर्तित करने के लिये आप अपनी जीभ और होठों को इस प्रकार हिलाते हैं, जिससे यह ध्वनि रुक जाये या इसका रूप बदल जाये। 'पप्पू' 'दादा' और 'लप' शब्द जोर से बोल कर देखिये कि किस तरह आप की जीभ और होठ 'अ-ह-ह-ह-ह' को शब्दों में बदल देते हैं।"

(विज्ञान-जगत ४१ से ५१ पृष्ठ तक)

डा० श्रीसम्पूर्णानन्दजी कहते हैं—

"शब्द का अर्थ स्वन—उस प्रकार का संवित् जो दो चैत वस्तुओं के टकराने पर होता है—माना जाता है और

श्रवणेन्द्रिय उसका ग्राहक मानी जाती है। यह बात ठीक है, परन्तु स्वन का क्षेत्र तो बहुत संकुचित है। वैज्ञानिक प्रयोगों से सिद्ध है कि यदि किसी प्रकार के आघात के कारण कोई वस्तु प्रकम्पित हो उठे और उसके चारों ओर कोई ऐसा ठोस या तरल माध्यम हो जो हमारे कान तक पहुंचता हो तो उस माध्यम में एक प्रकार की लहर उत्पन्न होती है जिसके फलस्वरूप हमको स्वन-संवित होता है। हमारे नाड़िसंस्थान की बनावट ऐसी है कि यदि वस्तु का कम्पन लगभग सोलह बार प्रति सेकेण्ड से कम या लगभग पचास हजार प्रतिसेकेण्ड से अधिक हो तो स्वन नहीं सुन पड़ता। जहाँ कोई ठोस या तरल माध्यम नहीं है वहाँ कम्पन भले ही हो, परन्तु स्वन नहीं आ सकता। सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र आदि से हमको प्रकाश मिलता है, स्वन नहीं। किन्तु पोथियों के आधार पर पण्डित-सम्प्रदाय शब्द का सम्बन्ध आकाश से जोड़ता है जो सर्वथा अवैज्ञानिक जान पड़ता है।"

(चिद्विलास आदि शब्दाधिकरण)

"श्री हेनरीस्वीट" की सम्पादित 'एंक्रेनटीले' नामक अंग्रेजी पुस्तक के 'एंगर' नामक पाठ में सन्यासिनियों को उपदेश दिया गया है। उसीमें एक अनुच्छेद आता है:—"

"शब्द क्या है-मात्र वायु। वायु का झोंका दुर्बलके लिये शक्तिशाली प्रतीत होता है जिसके स्पर्श मात्र से ही वह

पाप के कुण्ड में गिर जाता है। जो संन्यासिनी शब्दरूपी वायु के हलके-से झोंके से गिर जाती है उसके विरुद्ध कौन नहीं सोचेगा ? वह तो धूलि-कण के समान अस्थिर बन जाती है जिसे शब्द रूपी वायु का हल्कासा झोंका विचलित और अप्रसन्न बना देता है।"

(विवेक-ज्योति पत्रिका वर्ष ४ अंक ४)

उपर्युक्त कथन के इस वाक्य पर लक्ष्य दीजिये "शब्द क्या है—मात्र वायु।"

उपर्युक्त निर्णयों, प्रमाणों तथा विवेक से यह सिद्ध हुआ कि शब्द, वायु का ही गुण है, आकाश का नही। आकाश तो शून्य, क्रिया-रहित अवस्तु है।

चलन औ बलन शक्ति धावन पसारण।
गिराने उठाने में वायू है कारण॥
शब्दादि स्पर्श वायू में देखो।
आकाश में एक अवकाश लेखो॥

(न्यायनामा)

कर्म-फल-भोगों का रहस्य

राजा दुष्ट को दण्ड देता है, तो वह दुष्टकर्म से रोकता भी है। राजा के सामने कोई बुरा कर्म करे, तो वह अपनी शक्ति चले तक नहीं करने देगा और पकड़कर दण्ड

देगा। परन्तु ईश्वर जब सर्वशक्तिमान एवं सर्वत्र है, फिर पाप से क्यों नहीं रोकता ? पाप से रोकने में जब असमर्थ है, तो दण्ड देने में सर्वथा असमर्थ है।

एक मनुष्य ने एक मनुष्य को मारा। जो मारा गया, वह अपने पूर्वजन्मों के बुरे कर्मों का फल पाया; और उसके कर्म-फल देने के लिये, ईश्वर ने जिस मनुष्य से मरवाया, उसको राजा-द्वारा पुनः दण्ड दिलवाया। तो यह ईश्वर का कितना बड़ा अन्याय है ? यदि ईश्वरने उसे मरवा कर उसके पूर्वजन्म का कर्म-फल दिया, तो प्रेरणा करके जिससे मरवाया, वह निर्दोषी हुआ। फिर उसे दण्ड क्यों मिलना चाहिये ? यदि मारने वाले ने अपनी इच्छा से मारा, तो ईश्वर कर्म-फल-दाता न हुआ। तब तो मारा जाने वाला अपना कर्म-फल भोगा और जो मारा वह अपना नया कर्म बनाया। इस न्याय से यदि ईश्वर दण्ड देने वाला माना जायगा, तो सारे कर्मों का कर्ता भी उसी को मानना पड़ेगा; क्योंकि उसे लोग सर्वशक्तिमान मानते हैं।

ईश्वर यदि नहीं है, तो कर्म-फल-दाता कौन है ? इसका समाधान यह है कि बीज-वृक्ष अनुसार कर्मों से स्वाभाविक फल उत्पन्न होते हैं। मनुष्य का अन्तःकरण कैमरे के समान है। तन-मन-वचन से वह जो कुछ करता है,

उसका प्रतिविम्ब (संस्कार) उसके अन्तःकरण रूप पट पर अवश्य पड़ता है। यह संस्कार कर्म-फल देने की अवधि तक अमिट होता है, फल-भोग देकर ही समाप्त होता[1] है। कहा है—

अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कम शुभाशुभम्।
नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि ॥

अर्थः—अपने किये हुए पाप-पुण्य कर्मों के फल अवश्य ही भोगने पड़ते हैं। सौ करोड़ कल्प बीत जाने पर भी विना भोग किये कर्मी जीवों का कर्म क्षीण नहीं होगा।

लहसुन-प्याज जो खायेगा, उसको दुर्गन्धी की डकार अपने आप आयेगी। क्रोधी, कामी और दुराचारी मनुष्य का मन सदैव भयभीत तथा मलीन रहता है। क्षमावान, दयालु, विरक्त तथा सन्तोषी का मन सदैव निर्भय, स्वच्छन्द एवं स्वतन्त्र रहता है। अतएव कर्मों के अनुसार जीवों के अन्तःकरण स्वाभाविक बनते हैं, और वे वैसे ही स्वतः फल पाते रहते हैं।

१—यहाँ कर्मी जीवों का प्रकरण है। वैराग्यवान ज्ञानी का नहीं। बोधवान के समस्त कर्म दग्ध होकर उनका मोक्ष हो जाता है।

जीवों का स्थूल शरीर बारम्बार छूटता रहता है, परन्तु मनोमय सूक्ष्म-शरीर नहीं छूटता। चाहे समाज में सबके सामने, चाहे एकान्त में अकेले, चाहे शहर में, चाहे वन या गिरि-गुहा में—इन्द्रिय और मन से मनुष्य जो कुछ शुभाशुभ कर्म करता है, उत्तम-मध्यम रूप से उसकी बीज-वासनायें जीव के मन में अर्थात् सूक्ष्म-शरीर में बन जाती हैं। उसका फल देर-सबेर—किसी समय में बाध्य होकर जीवों को भोगना पड़ता है। सूक्ष्म-शरीर में चित्रित कर्मों की ऐसी बीज-वासनायें हैं, जो भोगे बिना कर्मों जीवों का छुटकारा नहीं है।

जैसे मिट्टी, जल, प्रकाश, वायु, समय इत्यादि सब योग्यता पाकर बीज से वृक्ष स्वयं हो जाता है। वैसे वासनायुक्त सूक्ष्म-शरीर से प्रेरित हो करके माता-पितादि या रस-गन्धादि सब योग्यता लेकर योनिज या अयोनिज शरीरों को जीव स्वयं प्राप्त हो जाते हैं। और जैसे बीजसे वृक्ष होने पर उसके स्वभावानुसार उसमें फूल-फूल स्वयं आ जाते हैं। वैसे शरीर निर्मित होने पर कर्म-वासनानुसार कर्मों के फल शरीर में स्वयं उदित हो जाते हैं और अपने पैर में कुल्हाड़ी[1] मारकर दुःख भोगने न्याय बाध्य होकर जीव स्वयं उन कर्मफलों को भोगता है।

१—जैसे मनुष्य अपनेपैर में कुल्हाड़ी मारे या न मारे—

सांख्यशास्त्र के रचयिता श्री कपिल जी कहते हैं—

"नेश्वराधिष्ठिते फलनिष्पत्तिः कर्मणा तत्सिद्धेः ॥

(सांख्य अ० ५ सूत्र २)

कर्मणा = कर्म के द्वारा; तत्सिद्धे = फल की सिद्धि होने के कारण; ईश्वराधिष्ठिते = ईश्वर को अधिष्ठाता मानने पर; फलनिष्पत्ति = फल की सिद्धि; न = नहीं होती।

भाव—कर्मानुसार फल होगा ही, ईश्वर उसमें उपेक्षा-अपेक्षा न कर पाने के कारण ईश्वर कर्मफल-दाता नहीं सिद्ध होता।

पारिभाषिकोवा।　　　　(सां अ० ५ सू० ५)

वा = अथवा; पारिभाषिक = कहने मात्र का ईश्वर होगा।

व्याख्या—ईश्वर को कर्म-फल-दाता मानने पर वह ईश्वर ही नहीं होगा, किन्तु नाम मात्र का ईश्वर होगा। क्योंकि ईश्वर के जो लक्षण श्रुतियों ने कहे हैं, उनसे इस

दोनों में स्वतन्त्र है; परन्तु जब मार लिया तो (उसी के) परतन्त्र हो गया, फिर उसे अवश्य ही उस दुःख को भोगना पड़ेगा। इसी प्रकार कर्म करने में स्वतन्त्र होते हुए फल भोगने में जीव, उन्हीं कर्मों के अधीन है।

ईश्वर की विरूपता अर्थात दूसरे लक्षण होंगे और ईश्वर को जगत का नियामक मानना भी सम्भव न होगा। फिर तो यही कहना पड़ेगा कि ईश्वर का कोई अस्तित्व नहीं है और कुछ स्वार्थियों ने ईश्वर की कल्पित मूर्ति खड़ी कर ली है।"

(पं० श्रीराम शर्मा आचार्य की टीका से)

श्री कृष्ण जी कहते हैं—

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोग स्वभावस्तु प्रवर्तते॥

(गीता ५। १४)

अर्थ—ईश्वर प्राणियों के न कर्तापन को न कर्मों को और न कर्मों के फलों के संयोगों को रचता है, प्रत्युत कर्मों के स्वभाव से ही फल-भोग होता है।

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान्।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु॥

(गीता १३। २१)

अर्थः—प्रकृति में आसक्त हुआ ही पुरुष (जीव) प्रकृति से उत्पन्न हुई त्रिगुणात्मक सभी वस्तुओं का उपभाग करता है, और इन गुणों की आसक्ति ही इस जीव के ऊँची-नीची खानियों में जन्म-धारण में हेतु है।

श्री वेदव्यास जी कहते हैं—

जीवितं मरणं जन्तोर्गतिः स्वेनैव कर्मणा ।
राजंस्ततोऽन्यो नान्यस्य प्रदाता सुखदुःखयोः ॥
(भागवत स्कन्ध १२ अ० ६ श्लो० २५)

अर्थः—राजन् ! जीते रहना, मर जाना तथा मरने के पश्चात उच्च-नीच गति को प्राप्त करना—यह अविनाशी जीवों के अपने-अपने कर्मों के अनुसार ही होते हैं। कर्म के अतिरिक्त जीवों को सुख-दुःख देने वाला और कोई नहीं है।

अन्य स्थल पर कहा है—

स्वयं कर्म करोत्यात्मा स्वयं तत्फलमश्नुते ।
स्वयं भ्रमति संसारे स्वयं तस्माद्विमुच्यते ॥

अर्थः—जीव स्वयं कर्म करता है, स्वयं फल भोगता है। अज्ञान-वश स्वयं संसार में भ्रमता है और ज्ञान को प्राप्तकर स्वयं कर्म-बन्धनों से मुक्त हो जाता है।

सुखस्य दुःखस्य न कोऽपि दाता
परो ददातीति कुबुद्धिरेषा ।
स्वयं कृतं स्वेन फलेन युज्यते
शरीरि हे निस्तर यत्त्वया कृतम् ॥
(गरुड़पुराण)

भावार्थः—सुख-दुःख का देने वाला अन्य कोई भी नहीं है, दूसरा कोई देता है—यह मानना कुबुद्धि है। जीव स्वयं कर्म करता है और स्वयं ही वासना-वश उसके फलों से युक्त होता है; हे देहधारी! अपने किये हुए को भोगो।

गोस्वामी श्री तुलसीदास जी यद्यपि ईश्वरवादी हैं तथापि प्रसंग-वश वे भी कह बैठते हैं कि—

न काहुइ कोइ सुख दुख दाता।
निजकृत कर्म भोग सुन भ्राता॥

अतएव अपने कर्मों के अनुसार वासना-वश जीव स्वयं उसके फल भोगते हैं। इसके लिये ईश्वर की कल्पना करने की आवश्यकता नहीं।

जड़-चेतन का ठीक निर्णय तथा स्व-स्वरूप का यथार्थ बोध सहसा न होने से यदि कोई अपने ऊपर कर्म-फलों का देने वाला ईश्वर मानता है, तो भी उसे यह मानना ही पड़ेगा कि अच्छे कर्मों का फल ईश्वर बुरा नहीं दे सकता तथा बुरे कर्मों का फल अच्छा नहीं दे सकता। इसलिये अन्ततः अपने शुभाशुभ कर्मों की ही प्रधानता है। अतएव अपने कर्मों का ही सुधार करना चाहिये। श्री निर्मल साहेब कहते हैं:—

"हुश्न में फँसे फटफटाते पड़े हो।
गालों से ईश्वर खुदा पर अड़े हो॥

दया धर्म औ दीनताई नहीं है।
करे छिप के अवगुण खुदाई कही है॥
खुदा ईश मिलने का कैसा यतन है।
नहीं जानते हो इसी से पतन है॥
सारी आदत बुरी बात छोड़ो।
बीबी औ बच्चों से नाता न जोड़ो॥
बर्हिगत वृत्ती को खुदा दूर ही है।
अन्तर्गत वृत्ती को तो निज मूर ही है॥"

आचार का आधार क्या है ?

जिस सिद्धान्त में अनेक जीवों को जड़ से सर्वथा भिन्न अविनाशी, वासना-वश पुनर्जन्म तथा कर्मफल-भोग वासना-त्याग से अनन्त मोक्ष माना जाता है। उस सिद्धांत में आचार के आधार की बात क्या पूछना है ? वहाँ तो आचार-विचार ही ठोस होते हैं।

जो किसी वेद-कुरान आदि पोथी को अन्धविश्वास पूर्वक स्वतः प्रमाण नहीं मानता। जो किसी कल्पित ईश्वर की आड़ में अपने दोषों को छिपाने का प्रयत्न नहीं करता; वह कितना बड़ा आशावादी आचार-विचार की भित्ति पर ठहरा हुआ प्रौढ़ सिद्धान्त होगा ? इसका विचार करना चाहिये। विचारशील पारखी सन्तों की

रहन-सहन देखकर यह जाना जा सकता है कि कबीर-पन्थी पारखी सन्तों के कितने ठोस आचार-विचार होते हैं।

मोक्ष-विषय

मनुष्य-शरीर को प्राप्त कर जो जीव सन्तों के सत्संग-द्वारा स्व-स्वरूप के यथार्थ बोध और पंचविषयों से वैराग्य को प्राप्त हो जाते हैं और सर्वसद्‌गुण एवं सदाचरण पूर्वक जीवन यापन करते हुए विषय-वासनाओं को सर्वथा दग्ध कर देते हैं और स्व-स्वरूप में दृढ़ स्थित हो जाते हैं, वे स्वयं अपने पुरुषार्थ से इस संसार सागर से पार होकर सदैव के लिये निश्चिन्त विदेह मुक्त हो जाते हैं[1]।

सारांश

जड़-चेतन—दो वस्तु अनादि तथा अनन्त हैं। जड़ में पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु—ये चार तत्त्व हैं, जो अपने-अपने गुण-लक्षण से एक-से-एक विलक्षण हैं। चेतन भिन्न-भिन्न अगणित हैं, वे व्याप्य-व्यापक, अंश-अंशी तथा कार्य-कारण-भाव से रहित हैं। चेतन में चैतन्यता गुण-धर्म है और जड़ में जड़ता के गुण-धर्म हैं। दोनों

१—इस विषय का विस्तृत अध्ययन अन्य ग्रन्थों में करना चाहिये।

अपने-अपने स्वरूप से एवं गुण-धर्मों से नित्य हैं। अतएव गुण-धर्म युक्त अनादि जड़-चेतन से प्रवाह रूप जगत् की सृष्टि अनादि है।

भूमण्डल, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्रादि—सब अनादि हैं। इनका कोई अन्य कारण-कर्ता नहीं है। बीज-वृक्षवत कर्मवासनानुसार अविनाशी जीवों को पुनर्जन्म तथा कर्म-फल-भोग स्वयं प्राप्त होते रहते हैं। मनुष्य-शरीर में विवेकी सद्गुरु-सन्तों के सत्संग - द्वारा स्वस्वरूप-बोध, वैराग्य एवं सद्गुण-सदाचरणों को प्राप्त करके सद्पुरुषार्थ—द्वारा जीव का सदैव के लिये स्वयं मोक्ष भी हो जाता है। यही सद्गुरु कबीर का 'पारख–सिद्धान्त' है; जैसा कि वास्तव में जड़-चेतन मय जगत् की स्थिति है।

उत्तरार्ध समाप्त।

जगन्मीमांसा

परिशिष्ट

पहला भाग

(जगत् एवं ईश्वर विषयक कुछ महापुरुषों के विचार)

महामहिम डा० श्री सम्पूर्णानन्द जी के विचार

ईश्वर प्रत्यक्ष का विषय नहीं है अतः उसका ज्ञान अनुमान और शब्द-प्रमाण से ही हो सकता है। जब तक सर्वसम्मत आप्तपुरुष निश्चित न हो जाय तब तक शब्द-प्रमाण से काम नहीं लिया जा सकता। विभिन्न सम्प्रदायों में जो लोग आप्त माने गये हैं उनका ईश्वर के सम्बन्ध में ऐक्यमत्य नहीं है। जो लोग ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते उनमें कपिल, जैमिन, बुद्ध और महावीर जैसे प्रतिष्ठित आचार्य हैं। अतः हमको शब्द-प्रमाण का सहारा छोड़ना पड़ेगा। अब केवल अनुमान रह गया।

ईश्वर की सत्ता में यह हेतु बतलाया जाता है कि प्रत्येक वस्तु का कोई-न-कोई रचयिता होता है। इसलिये जगत का भी कोई रचयिता होना चाहिये। इस अनुमान में कई दोष हैं। हम यदि यह मान लें कि प्रत्येक वस्तु का कर्ता होता है तो फिर वस्तु होने से ईश्वर का भी कर्ता होगा और उसका कोई दूसरा कर्ता, दूसरे का तीसरा। यह परम्परा कहीं समाप्त न होगी; ऐसे तर्क में अनवस्था-दोष होता है। इससे ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध नहीं होता। यदि ऐसा माना जाय कि ईश्वर को कर्ता की अपेक्षा नहीं है तो फिर ऐसा मानने में क्या आपत्ति है कि विश्व को कर्ता की अपेक्षा नहीं है। फिर ऐसा मानना कि प्रत्येक वस्तु कर्तृक[1] होती है, साध्यसम[2] है। सूर्य-चन्द्रमा कर्तृक हैं इसका क्या प्रमाण है। समुद्र और पहाड़ को बनाये जाते किसने देखा है? जब तक यह सिद्ध न हो जाय कि प्रत्येक वस्तु का कर्ता होता है तब तक जगत का कोई कर्ता है ऐसा सिद्ध नहीं होता।

इस तर्क पर यह आपत्ति की जाती है कि ऊपर प्रयोग किया हुआ वस्तु शब्द वहीं लागू होता है जहाँ संघटन होता है। कई अवयवों के मिलने से जहाँ अवयवी बनता

१—बनायी हुई। २—एक तरह का हेतु जिसे प्रमाणित करना पड़े।

है, वहीं उपयोग का प्रश्न उठता है और कर्ता की खोज होती है क्योंकि आवश्यकता की पूर्ति करना ही उपयोगी चीज का लक्षण है। ईंट, चूना, गारा आदि का योग घर है। घर कार्य-विशेष के लिये है। हम ऐसा मानते हैं कि किसी कर्ता ने इस सामग्री को उस कार्य-विशेष की सिद्धि के लिये बनाया। ईश्वर अवयवी नहीं। संघटन नहीं है, उसका कलेवर किसी उद्देश्य की सिद्धि नहीं करता। अतः वह 'वस्तु' नहीं है। कर्ता की अपेक्षा नहीं करता। यह आपत्ति समीचीन नहीं। यह कैसे जाना गया कि ईश्वर संघटन नहीं है, अवयवों के मेल से नहीं बना है। वेद में, जिसको भारतीय ईश्वरवादी प्रमाण मानता है, उसके सिर, हाथ, पाँव का उल्लेख है। दूसरे ईश्वर साधक ग्रन्थ में कहते हैं उसने देखा, उसने आज्ञा दी, उसने सोचा, उसने कहा इत्यादि। यह वाक्य तो मनुष्य-सम किसी प्रकार के शरीर की ओर संकेत करते हैं। और फिर हमारा मूल प्रश्न अपनी जगह पर वर्तमान है। ईश्वर की सत्ता का प्रमाण क्या है? जब ईश्वर हो तब तो उसके स्वरूप के विषय में विचार किया जाय। यदि कोई अपनी ओर से किसी कल्पित मूर्ति की मनमानी परिभाषा बना ले तो इससे उस पदार्थ की सत्ता सिद्ध नहीं होती।

जो लोग जगत् को कर्तृक मानते हैं उनके सामने अपने व्यवहार की वस्तुएँ रहती हैं। घर बनाने के लिये

राजगीर, घड़े के लिये कुँभार, गहने के लिये सोनार, घड़ी के लिये घड़ीसाज चाहिये। यह कारीगर ईंट-पत्थर, मिट्टी, सोना, पुर्जों से गृहादि का निर्माण करते हैं। कारीगर उपादान सामग्री को काम में लाता है और निर्माणकार्य में लगाने का कोई-न-कोई प्रयोजन होता है। वह प्रयोजन यदि हमको पहले से न भी ज्ञात हो तो निर्मित वस्तु को देखने से समझ में आ सकता है। अब यदि गृहादि की भाँति जगत भी कर्तृक है तो उसकी उपादान सामग्री क्या थी? और सृष्टि करने में ईश्वर का प्रयोजन क्या था? जगत में जो कुछ भी है वह या तो जड़ है या चेतन, अतः जो भी उपादान रहा होगा वह या तो इनमें से किसी एक प्रकार का रहा होगा या उभयात्मक। दोनों ही अवस्थाओं में यह प्रश्न उठता है कि वह जगत की उत्पत्ति के पहले कहाँ से आया? यदि इसका कोई कर्ता नहीं था तो जगत के लिये ही कर्ता की कल्पना क्यों की जाय? यदि कर्ता था तो वह ईश्वर से भिन्न था या अभिन्न? यदि भिन्न था तो ईश्वर की कल्पना क्यों की जाय? क्या जो व्यक्ति जड़-चेतन को उत्पन्न कर सकता था वह उनको मिलाकर जगत् नहीं बना सकता था? जड़-चेतन के बनने पर तो बिना किसी ईश्वर को माने भी जगत का विस्तार समझ में आ सकता है। यदि उपादान कर्ता ईश्वर से अभिन्न था अर्थात् यदि ईश्वर ने ही

जड़-चेतन की सृष्टि की तो इसका तात्पर्य यह हुआ कि असत् से सत् की उत्पत्ति हुई जो प्रत्यक्ष के विरुद्ध होने से अनुमान से भी बाधित है।

यदि यह माना जाय कि ईश्वर अपने सत् स्वरूप से जड़-चेतन को उत्पन्न किया तो यह प्रश्न होगा कि उसने ऐसा क्यों किया, ऐसा करने में प्रयोजन क्या था ? यह नहीं कह सकते कि जीवों के भोगोपलब्धि के लिये ऐसा किया गया क्योंकि जीवों को तो उसी ने बनाया। न उसको बनाता न उसके लिये भोग का प्रश्न उठता। जीवों का मोक्ष भी उद्देश्य नहीं हो सकता। क्योंकि जब जीव थे ही नहीं तो फिर उनका बन्धन कहाँ था जिसे तोड़ना था। यह कहना भी सन्तोषजनक नहीं है कि जगत ईश्वर की लीला है। निरुद्देश्य खेल ईश्वर के साथ अनमेल है। क्या वह एकाकी घबराता था कि जो इतना प्रपञ्च रच गया। यह भी ईश्वरत्व-कल्पना से असंगत है। यह कहने से भी काम नहीं चलता कि ईश्वर की इच्छा अप्रतर्क्य है। इच्छा किसी ज्ञातव्यके जानने की, किसी आप्तव्य के पानेकी होती है। ईश्वर केलिये क्या अज्ञात या अप्राप्त था ? फिर जब उसकी इच्छा ऐसीही अकारण, निष्प्रयोजन है। तो अब उसपर कोई अंकुश तो लग नहीं गया है। वह किसी दिन भी सृष्टि का संहार कर सकता है। आग

को शीतल कर सकता है, कमल के वृन्त[1] पर चन्द्रमा-सूर्य उगा सकता है। अन्धविश्वास चाहे जो कहे परन्तु किसी की बुद्धि यह स्वीकार नहीं करती कि ऐसा होगा। ईश्वरवादी यह कह सकते हैं कि ईश्वर का स्वभाव ही अंकुश है और नियमवर्तित्व उसका स्वभाव है। जगत में जो कुछ हो रहा है, वह नियमों के अनुसार हो रहा है। इन सब नियमों की समष्टि को ऋत कहते हैं। ऋत ईश्वर का स्वभाव है। इस पर यह प्रश्न उठता है कि यह स्वभाव ईश्वर का सदा से है या जगत की सृष्टि के पीछे हुआ? यदि पीछे हुआ तो किसने यह दबाव डाला? यह कौनसी शक्ति है जो ईश्वर से भी बलवती है? यदि पहिले से है तो जो इच्छा जगत की उत्पत्ति का मूल थी वह ईश्वर के स्वभाव से विरुद्ध रही होगी अर्थात् जगत को उत्पन्न करना ईश्वर का स्वभाव है। परन्तु जहाँ स्वभाव होता है, वहाँ पर्याय रहते ही नहीं। ईश्वर की सिसृक्षा[2] उसके स्वभाव के अनुकूल होगी। पानी का स्वभाव नीचे की ओर बहना है आगका स्वभाव गर्मी है, ईश्वर का स्वभाव जगत उत्पन्न करना है। न पानी नीचे बहना छोड़ सकता है; न ईश्वर जगत्को उत्पन्न करना। ऐसी दशा में उसे जगत का कर्ता कहना उतना ही उचित होगा जितना पानीको नदी या आग को जलनका कर्ता कहना। कर्तृत्व का व्यपदेश[3] वहीं

१—डंडी।

२—सृष्टि रचने की इच्छा। ३—व्याख्या।

हो सकता है जहाँ संकल्प की स्वतन्त्रता हो। यह काम करूँ या न करूँ, स्वभाव में इस प्रकार की स्वतन्त्रता के लिये स्थान नहीं रहता। अतः यह सब तर्क ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध नहीं करते।

यह हो सकता है कि हम किसी अपरचित यन्त्र बनने के उद्देश्य को न समझा सकें, फिर भी उसकी बनावट देखकर इस निश्चय पर पहुचें कि यह कर्तृक है, स्वतः नहीं बन गया। क्या जगत हमको ऐसा मानने पर विवश कर सकता है कि उसका कोई कर्ता है? ऐसा मानने के पक्ष में सबसे बड़ा तर्क यह उपस्थित किया जाता है कि जगत का संचालन ऋतमय है, सब काम नियमों के अनुसार होते हैं, प्रत्येक घटना का कोई-न-कोई कारण होता है। नियमितता के कारण हम भविष्यत् घटनाओं को पहिले से जान सकते हैं और वस्तुओं को अपने भोग की सामग्री बना सकते हैं। नियम नियामक की अपेक्षा करता है। इससे प्रतीत होता है कि जगत का कोई कर्ता है चाहे हम उसके प्रयोजन की थाह न पा सकते हों। इस तर्क में भी दो दोष हैं। पहिले तो यह माननेका कोई आधार नहीं है कि नियम के लिये नियामक चाहिये। प्राकृतिक नियम मानव-विधान नहीं है। विधान का रूप होता है आज से इस प्रकार का काम किया जाय,जो न करेगा उसको अमुक प्रकार का दण्ड दिया जायगा। प्राकृतिक नियम का रूप होता है: ऐसा होता देखागया है। उसमें दण्डका कोई प्रश्न

नहीं उठता। मानव-विधान आज्ञात्मक होता है। कोई दुकानदार रुपये के ढाई सेर से कम गेहूँ न बेचे, जो बेचेगा उसे पाँच सौ रुपये जुर्माने तथा दो वर्ष कारावास का दण्ड दिया जायगा। प्राकृतिक नियम वर्णनात्मक होता है। धनविद्युत और ऋणविद्युत एक दूसरी को आकृष्ट करती हैं। ऐसी दशा में प्राकृतिक नियमों को देखकर नियामक का अनुमान नहीं किया जा सकता।............................
........अतः जगत का दृश्यरूप हमको ईश्वर की सत्ता मानने को वाध्य नहीं करता।

कुछलोग ईश्वर को जगत का स्रष्टा न मानकर आरम्भक मानते हैं। उनका ऐसा विश्वास है कि जगत की रचना की जो जड़-चेतनात्मक उपादान-सामग्री थी उसको ईश्वर ने बनाया नहीं, परन्तु ईश्वर के सान्निध्य से सामग्री का उस रूप में संव्यूहन हो गया जिसको जगत कहते हैं। चुम्बकके सान्निध्य मात्र से लोहे के टुकड़े अपने को विशेष प्रकार से विन्यस्त कर लेते हैं। यह विन्यास लोहे का स्वभाव होगा अन्यथा चुम्बक सोने या चाँदी या लकड़ी को भी वैसे ही विन्यस्त कर लेता। लोहे का स्वभाव किन्हीं वाधाओं से अभिभूत था, चुम्बक उन्हें हटा देता है। यह सोचना चाहिये कि जगत के आरम्भ में वह कौन से अवरोध थे जिन्हें ईश्वर ने हटाया। ऐसी कोई बात समझ में नहीं आती। लोहा अकेला नहीं है, जगत् में और पदार्थ भी हैं। इनमें से कोई उसका अवरोधक हो जाय तो कोई

आश्चर्य नहीं है। पानी का स्वभाव नीचे बहना है पर उसके अतिरिक्त दूसरे भौतिक पदार्थ उसकी गति को कभी-कभी रोक देते हैं। वह स्वयं अपना अवरोधक नहीं होता। जगत के मूल सामग्री के सिवाय तो और कुछ था नहीं फिर वह अपने स्वभाव के अनुसार क्यों संव्यूढ़ न हो सकी जो ईश्वर की आवश्यता पड़ी।

× × ×

कुछ लोगों का ऐसा विश्वास है कि यदि ईश्वर की सत्ता न स्वीकार की जायगी तो सदाचार के लिये कोई सहारा न रह जायगा। ऐसा मानने से कि ईश्वर लोकोपयोगी कामों में प्रसन्न होता है और उनके लिये कभी-न-कभी, कहीं-न-कहीं पुरस्कार देता है और लोकोद्वेजक कामों से अप्रसन्न होता है तथा उनके लिये कभी-न-कभी, कहीं-न-कहीं दण्ड देता है सत्कर्म की मर्यादा बनी रहती है। पुरस्कार और दण्ड की बात छोड़ दी जाय, तब भी ईश्वर की प्रसन्नता प्रोत्साहन देती है। हम इस सम्बन्ध में एक अगले अध्याय में फिर विचार करेंगे परन्तु इतना तो स्पष्ट ही होना चाहिये कि यह कोई पुष्ट तर्क नहीं है। कोई ईश्वर की प्रसन्नता की क्यों परवाह करे? कौन-सा काम अच्छा, कौन बुरा है इसका निर्णय ईश्वर अपनी स्वतन्त्र इच्छा से करता है या इस बात की समीक्षा करता है कि वर्तमान परिस्थिति में क्या

श्रेयस्कर है ? किस काम के लिये क्या पुरस्कार या दण्ड दिया जाय यह ईश्वर की स्वतन्त्र इच्छा पर निर्भर है या नियमबद्ध है अर्थात् अमुक काम का अमुक फल होगा यह नियत है ? यदि इन बातों में ईश्वर की इच्छा स्वतन्त्र है तो फिर सदाचार निराश्रय हो जाता है। इच्छा का क्या भरोसा, न जाने कब पलट जाय; जो पुण्य है वह पाप हो जाय, जो दण्ड्य है वह पुरस्कार्य होजाय। यदि कार्या-कार्य का निर्णय वस्तुस्थिति की समीक्षा पर निर्भर है तो प्रत्येक मनुष्य को अपनी बुद्धि के अनुसार स्वयं समीक्षा करनी होगी क्योंकि किसी समय विशेष पर ईश्वर की क्या सम्मति है इसके जानने का हमारे पास कोई साधन नहीं है। यदि काम का फल नियमानुकूल मिलता है तो ईश्वर को मानना बेकार है। ईश्वर फल देता है न कहकर यह कहना ठीक होगा कि नियति के अनुसार फल मिलता है। ऐसी नियति को वैदिक वाङ्मय में सत्य का नाम दिया गया है। अपने से बाहर किसी ईश्वर की ओर दृष्टि लगाये रहने की अपेक्षा काम और फल के अटल सम्बन्ध को, जिसे कर्म-सिद्धान्त कहते हैं, बराबर सामने रखना सदाचार के लिये दृढ़तर सहारा है।

मनुष्य अल्पज्ञ और अल्पशक्तिमान है, उसकी इच्छाओं का पदे-पदे अभिघात होता है, इसलिये वह एक ऐसे व्यक्ति की कल्पना करता है, जो सर्वशक्तिमान और सर्वज्ञ है।

ऐसे व्यक्ति की इच्छायें सदा अप्रतिहत होंगी। यह कल्पित व्यक्ति आदर्श का काम करता है। मनुष्य जो कुछ होना चाहता है उस सबको एकत्र करके इस आदर्श की सृष्टि करता है। हम दूसरों की सेवा करना चाहते हैं पर उपकरणों की कमी ऐसा करने नहीं देती; कभी-कभी यह समझ में नहीं आता कि क्या करें, क्या न करें; स्वार्थसङ्घर्ष के फल स्वरूप किसी के अधिकारों का कुचल जाना, किसी के हृदय का विदारण, आये दिन देखना पड़ता है। ऐसी अवस्था में अनन्त ज्ञान, अनन्त वीर्य, अनन्त वैराग्य, अनन्त करुण अनन्त माधुर्यमय व्यक्ति की सत्ता पर विश्वास होने से बड़ा सम्बल प्राप्त होता है। अन्याय से लड़ने के लिये स्फूर्ति मिलती है, दुःख सह्य हो जाते हैं।

ईश्वर मनुष्य का परिवर्धित और परिशोधित संस्करण है। उसमें वह सब सद्गुण हैं जो मनुष्य अपने में देखना चाहता है। इसीलिये प्रत्येक संस्कृति, प्रत्येक व्यक्ति के ईश्वर में थोड़ा-थोड़ा भेद है। किसी के लिये कोई गुण विशेष मुख्य है, किसी के लिये गौण। जो एक की दृष्टि में सद्गुण है वह दूसरे की दृष्टिमें दुर्गुण हो सकता है। परन्तु इतनी बात सभी ईश्वरवादी मानते हैं कि ईश्वर सर्वज्ञ है, सर्वव्यापक है, नित्य है, सर्वशक्तिमान है, सर्व सद्गुण सम्पन्य है, निराश्रयों का आश्रय है और सत्कर्म करने वालों का सहायक है। उनका यह भी विश्वास है कि उस

पर दृढ़ विश्वस रखने वालों की आध्यात्मिक उन्नति होती है। उनके चरित्र में निर्मलता आती है और उनकी लोक-संग्रह-शक्ति बढ़ती है।

हम इन बातों को अस्वीकार नहीं करते, पर इनसे ईश्वर का अस्तित्त्व सिद्ध नहीं होता। वह उन उपयोगी अलीकों[1] में से है जिनकी सृष्टि अपनी सुविधा के लिये चित्त करता है। बहुत-सी बाते हैं जो समझ में नहीं आतीं, बहुत-सी घटनायें हैं जो अप्रिय लगती हैं। इन सबके लिये 'ईश्वर की इच्छा' कह देने से चित्त का क्षोभ मिट जाता है, अज्ञात और अप्रिय का अदृश्य सम्बन्ध-सूत्र मिल जाता है।

ईश्वर के अस्तित्त्व के सम्बन्ध में यह विचार-विमर्श अपरिचित-सा प्रतीत होता है परन्तु नितान्त नया नहीं है। प्राचीन भारत में सांख्य आचार्यों का यह मत था कि ईश्वर असिद्ध है अर्थात् उसके अस्तित्त्व का कोई प्रमाण नहीं है।

× × ×

अन्तिम तर्क का आधार वेद है। वेद वाक्यों के रूप में है वाक्य का कोई वक्ता, कर्ता होता है, परन्तु वेद-वाक्यों का कोई कर्ता नहीं है; मन्त्र अनादिकाल से चले आ रहे हैं। अतः वह ईश्वरकृत हैं। इससे ईश्वर की सत्ता सिद्ध

१—झूठों

होती है। इस तर्क को देखिये। वेद-मन्त्र अनादि काल से चले आ रहे हैं, इसका क्या प्रमाण है? यदि किसी मन्त्र के रचयिता का पता न हो तो वह ईश्वरकृत कैसे सिद्ध हो जायगा। यदि किसी कुर्ते के सीने वाले का पता न चलता हो तो क्या वह ईश्वर का सीया हुआ माना जायगा? प्रत्येक मन्त्र के साथ उसके ऋषि का नाम दिया रहता है। ऐसा माना जाता है कि ऋषि समाधि की अवस्था में मन्त्र को देखता या सुनता है, उसको बनाता नहीं। इसका क्या प्रमाण है? ऋषि का कथनमात्र प्रमाण नहीं हो सकता। बुद्ध और महावीर भी समाधि की उच्च कोटि तक पहुँचे थे, ऐसा उनके अनुयायी मानते हैं। उनको तो मन्त्र नहीं देख-सुन पड़े। क्यों ऐसा हुआ? इसका क्या प्रमाण है कि वह वैदिक ऋषियों से नीचे के स्तर पर थे? यह आश्चर्य की बात है कि याज्ञवल्क्य पर तो मन्त्र अवतरित हुए, परन्तु उनके परम् गुरु व्यासको ऐसा अनुभव नहीं हुआ। कुछ मन्त्रों में स्पष्ट कहा गया है; मैं अमुक ऋषि, हे इन्द्र तुम्हारे लिये साम प्रस्तुत करता हूँ या नया स्तोत्र रचता हूँ। मुझ पर प्रसन्न हो। क्या यह मन्त्र ईश्वरकृत हैं? ब्राह्मण[1] भी वेद के अंग माने जाते हैं। उनमें तो बहुत सी कथायें हैं, पारिप्लितों अर्थात्

१--ग्रन्थ का नाम।

परीक्षित-वंशीय नरेशों की चर्चा है। यह मानना सम्भव नहीं है कि ईश्वर ने ही इन कहानियों की जिनमें ऐतिहासिक घटनाओं और व्यक्तियों का उल्लेख है, सृष्टि के आरम्भ में ही रचना कर डाली।

श्रुति के सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि एक तो वह निर्दोष रचना है, दूसरे उसमें साधिकारोक्ति है। निर्दोष रचना का लक्षण यह है कि वह रचना इक्ति, अनुक्ति और पुनरुक्ति-दोषों से मुक्त हो अर्थात् उसमें कोई आवश्यक बात छूट न गयी हो, कोई अनावश्यक बात न कही गयी हो और पुष्ट कारण विशेष के बिना कोई बात दुहराई न गयी हो। इस कसौटी पर वर्तमान संहिताओं को कसने से कोई उपयोगी परिणाम नहीं निकलता। सपत्नी पर विजय पाने का उपाय दिया हुआ है। क्या यह बहुत आवश्यक था? कई रोगों के, प्रसव-वेदना के उपशम के, रुके मूत्र को उतारने के मन्त्र हैं, यदि यह बातें आवश्यक मानी भी जायँ तो और बहुत-सी व्याधियाँ क्यों छूट गयीं? एक ही आशय के सैकड़ों मन्त्र मिलते हैं, यह पुनरुक्ति क्यों की गयी? यह कहा जा सकता है कि वस्तुतः पुनरुक्ति नहीं है। मन्त्रों के गम्भीर अर्थ केवल कोश और व्याकरण से नहीं जाने जा सकते। यह बात भले ही यथार्थ हो पर इसका प्रमाण क्या है? किसी भी सरल वाक्य का

गम्भीर अर्थ लगाया जा सकता है। साधिकारोक्ति का अर्थ यह है कि वेद ऐसी बात कहता है कि जिसको मनुष्य अपने से नहीं जान सकता था। अमुक यज्ञ करने से स्वर्ग प्राप्त होता है—यह इस प्रकार का आदेश है। यह ठीक है कि इस बात को मनुष्य अपने से नहीं जान सकता था, परन्तु इसकी सत्यता का क्या प्रमाण है? यदि वेद में दिये हुए अन्य आदेश सत्य निकला करते थे तब भी एक बात थी। अमुक इष्टि से पुत्र होगा, अमुक यज्ञ से धन मिलेगा—यदि तत्तत् यज्ञ-याग का वह फल बराबर मिलता रहता तो भी यह भरोसा होता कि अन्य बातें, स्वर्ग परक आदेश, भी सत्य होंगी। परन्तु ऐसी क्रियाओं में इस प्रकार की फलवत्ता देखी नहीं जाती। इसलिये वेद के आधार पर ईश्वर की सत्ता सिद्ध नहीं हो सकती।

(चिद्विलास, ईश्वराधिकरण)

एम्पोडोक्लीज के विचार

"एम्पोडोक्लीज" सुवक्ता और कार्य-शक्तिशाली पुरुष था। इसके मत में संसार का आदि और अन्त नहीं है। सब जगत चार तत्त्वों से उत्पन्न है। पृथ्वी, जल, तेज और वायु—ये तत्त्व गुणों से भिन्न हैं और प्रत्येक

के विभाग हो सकते हैं। ये तत्त्व परस्पर ऐसे विभक्त हैं कि एक से दूसरा कभी नहीं हो सकता। दो या अधिक तत्त्व मिलकर द्रव्यान्तर भी नहीं बन सकते। केवल अनेक तत्त्वों के सूक्ष्म अंश मिल जाने से एक विलक्षण द्रव्य हो गया, ऐसा जान पड़ता है। वस्तुतः सब तत्त्वों के अंश पृथक् ही रहते हैं।"

(यूरोपीय दर्शन पृष्ठ ५)

उपर्युक्त विद्वान् इस सन्दर्भ में स्व-स्वरूप चेतन के शोधन की तो कुछ बात नहीं कह सके। परन्तु जड़-क्षेत्र की स्थिति की सत्यता का आभास दिया है। पाश्चात्य दार्शनिक 'डेकार्ट' और 'जीसस' ने स्व-स्वरूप के परिचय में संकेत किया है। डेकार्ट ने कहा "मैं सोचता हूँ, इसलिये मैं हूँ, यह कोई अनुमान नहीं है, यह तो स्वयं सिद्ध है।" जीसस ने कहा—"मैं ही सत्य हूँ।"

श्री पं० उदयवीर जी शास्त्री के विचार

"सृष्टि हमेशा होती आई है यानी सृष्टि का होना अनादि है। अब जब हम यह देखते हैं कि मनुष्य में ज्ञान स्वाभाविक है और उसमें प्रयत्न भी है जिससे ज्ञान बढ़ सकता है, तो किसी अन्य प्रकार से ज्ञान ग्रहण करके अपने विचार बनाने की क्या आवश्यकता है? यानी ईश्वर

को मनुष्य को ज्ञान देने का क्या अवसर है? यानी यह मानना कि ईश्वर ने मनुष्य को आदि सृष्टि में ज्ञान दिया किसी तर्क से ठीक प्रतीत नहीं होता।

मेरे विचार में इस बात को मानने से कि वेद ईश्वर कृत ज्ञान है मनुष्य मात्र की बड़ी हानि हुई है और हो रही है। इस भ्रान्तिका मिटाना मनुष्यमात्र का कर्तव्य है।

वेद ईश्वर का दिया हुआ ज्ञान है, इस बात को समझने के लिये यह जानना आवश्यक है कि यह ज्ञान किस लिये दिया गया? यह ज्ञान कब दिया गया? यदि यह ज्ञान मनुष्य मात्र के लिये दिया गया, तो पहले यह जानना होगा कि मनुष्य क्या है और उसके लिये ज्ञान की आवश्यकता भी है या नहीं?

मेरा विचार है कि यदि मनुष्य या कोई विद्वान्, मनुष्य की परिभाषा कर ले और ज्ञान की भी, तो उसका फल यही हो सकता है कि वेद मनुष्यों के विचारों की पुस्तक है न कि परमात्मा का दिया हुआ ज्ञान है। मनुष्य को वेदों के काल में अपनी आवश्यकता के अनुसार जो कुछ विचार उत्पन्न हुए वह लिख दिये या बना लिये। मनुष्य को जिससे कोई लाभ होता है, वह उसकी पूजा करता है। परन्तु ईश्वर से तो न कोई लाभ होता है और न हो सकता है। वह तो मान लिया गया है कि कोई ऐसी

वस्तु अवश्य होनी चाहिये। परन्तु ऐसा मानने में कोई बुद्धिमानी का काम नहीं है।

विचार यह है कि मनुष्य (का सृष्टिक्रम) अनादि है। उसकी बुद्धि या ज्ञान स्वाभाविक है। क्योंकि मनुष्य न हो, तो सृष्टि का विचार कौन कर सकता है? और बगैर मनुष्य के सृष्टि ही नहीं। क्योंकि सृष्टि अनादि है यानी सृष्टि-क्रम अनादि है तो ईश्वर को सृष्टि के बनाने या न बनाने में कोई अधिकार ही नहीं है। मनुष्य के मस्तिष्क के विचार वेद हैं। इस कारण वेद ईश्वर कृत नहीं हो सकते।

(वेदवाणी पत्रिका)

पण्डित राहुल सांकृत्यायन जी षट्दर्शनों के विषय में लिखते हैं—

श्रीकपिल-सांख्य

"कपिल ने अपने दर्शन (सांख्यशास्त्र) में परमात्मा या ब्रह्म को स्थान नहीं दिया। हाँ असंख्य जीवों या पुरुषों को उन्होंने प्रकृति के साथ एक स्वतन्त्र तत्त्व माना है।

संक्षेप में कपिल प्रकृति और अनेक चेतन-पुरुषों को मानते थे और कहते थे पुरुष की समीपता मात्र से और उसके ही लिये प्रकृति में क्रिया उत्पन्न होती है। जिससे विश्व की वस्तुओं का उत्पाद और विनाश होता है।"

(दर्शन-दिग्दर्शन पृष्ठ ५४८)

श्रीकणाद—वैशेषिक

"ईश्वर के लिये कणाद के दर्शन में गुन्जाइश नहीं। उनके नौ द्रव्यों में आत्मा आया है। परन्तु वे हैं इन्द्रियों और मनों की सहायता से ज्ञान-प्राप्त करने वाले अनेक जीव। उन्हें कर्म-फल आदि 'अदृष्ट' देता है। यह फल देने वाला 'अदृष्ट' प्रकृति-पुरुष की वासना या संस्कार है। इसे ईश्वर नहीं कहा जा सकता।

............इस प्रकार अदृष्टवादी कणाद को सृष्टि-कर्म-फल कहीं भी ईश्वर की जरूरत नहीं महसूस होती।"

(दर्शन-दिग्दर्शन, पृष्ट५६४)

श्री जैमिनि—मीमांसा

"मीमांसा के अनुसार बाह्य विश्व सच है और वह जैसा दिखलाई पड़ता है, वैसा ही है। आत्मा अनेक हैं—ईश्वर के लिये मीमांसा में गुन्जाइश नहीं।

(दर्शन-दिग्दर्शन ६१४)

श्री गौतम (अक्षपाद)-न्याय

"अक्षपाद ने ईश्वर को अपने ११ प्रमेयों में नहीं गिना है और न उन्होंने कहीं साफ कहा है कि ईश्वर को

भी वह आत्मा के अन्तर्गत है। ऊपर जो मन को आत्मा का साधन कहा है उससे भी यही साबित होता है कि आत्मा से उनका मतलब जीव से है। अपने सारे दर्शन पर अक्षपाद का ईश्वर पर कोई जोर नहीं है और न ईश्वर वाले प्रकरण को हटा देने से उनके दर्शन में कोई कमी रह जाती है। ऐसी अवस्था में न्याय सूत्रों में यदि क्षेपक हुए हैं, तो हम इन तीन सूत्रों (न्याय ४। १। १९-२१) को ले सकते हैं। जिनमें ईश्वर की सत्ता सिद्ध की गयी है।—डाक्टर सतीशचन्द्र विद्याभूषण ने जहाँ न्याय-सूत्र के बहुत-से भाग को पीछे का क्षेपक मान लिया है, फिर इन तीन सूत्रों का क्षेपक होना बहुत ज्यादा नहीं है। इन सूत्रों में भी हम देखते हैं अक्षपाद ईश्वर को दुनिया का कर्ता-हर्ता नहीं बना सकते हैं।"

(दर्शन-दिग्दर्शन पृष्ठ ६३३)

श्री पतंजलि-योग

"पतंजलि के योगशास्त्र को सेश्वर (=ईश्वरवादी) सांख्य भी कहते हैं। क्योंकि जहाँ कपिल के सांख्य में ईश्वर की गुञ्जाइश नहीं है वहाँ पतंजलि ने अपने दर्शन में उनके लिये 'गुञ्जाइश बनाई' है। गुञ्जाइश बनाई इसलिये कहना पड़ता है कि पतंजलि ने उसे उपनिषद्कारों की भाँति सृष्टिकर्ता नहीं बनाना चाहा और न अक्षपाद की

भाँति कर्मफल दिलानेवाला ही। चित्तवृत्तियों के निरोध (=बन्द) करने के (योग सम्बन्धी साधनों का) अभ्यास और (विषयों से) वैराग्य दो मुख्य उपाय बतलाते हैं; उसी में 'अथवा ईश्वर की भक्ति से' कहकर ईश्वर को पीछे से जोड़ दिया गया है।............ पतंजलि के कथन से यही मालूम होता है कि ईश्वर कैवल्य-प्राप्त दूसरे मुक्तों जैसा ही एक पुरुष है, फर्क इतना ही है, कि जहाँ मुक्त पुरुष पहले बद्ध रहकर अपने प्रयत्न से मुक्त हुए हैं, वहाँ ईश्वर सदा से (= नित्य) मुक्त है।"

(दर्शन-दिग्दर्शन पृष्ठ ६५३)

उपर्युक्त प्रमाणों से सिद्ध होता है कि भारत के बड़े-बड़े दार्शनिकों में से कई ने ईश्वर को बिलकुल स्वीकार ही नहीं किये हैं। कुछ लोगों ने स्वीकार किये हैं, तो उसपर अधिक बल न देकर चेतन-पुरुष या जीव पर ही बल दिये हैं। फिर भी सत्य सिद्धान्त पुष्ट करने के लिये बहुमत की आवश्यकता नहीं। सत्य सत्य ही रहेगा चाहे उसका बहुमत हो चाहे न हो। बल्कि सदैव से अपेक्षया सत्य-धारी कम ही होते हैं।
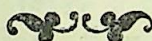
दूसरा-भाग

अपनी सद्भावना

ऋषि-मुनि, बौद्ध; अर्हत, पीर-पैगम्बर, पाद्री आदि सभी आचार्यों में तथा इतना ही नहीं मानव मात्र में, बल्कि प्राणिमात्र में लेखक के हृदय में श्रद्धा एवं प्रेम है। फिर भारतीय तत्त्ववेत्ता दार्शनिक एवं सन्त-महापुरुष तो पूज्य ही हैं। किसी के प्रति ईर्ष्यादि करना तो सर्वथा अन्याय है। परन्तु विवेकवान् किसी मनुष्य या किसी ग्रन्थ के पक्ष में नहीं पड़ते। वे सबसे केवल गुण एवं सत्य निर्णय को ही लेते हैं न वे केवल तर्क ही को स्थान देते हैं और न केवल अन्धी श्रद्धा को ही।

शास्त्रों की प्रामाणिकता में खींचतान

यदि केवल श्रद्धा से किसी का मत मान लिया जाय तो किनका माना जाय ? वेद को मानने वाले कहते हैं कि वेद ईश्वर-वाक्य हैं, जो वेद में लिखा है, वह सत्य है।

कुरान के मानने वाले कहते हैं कि कुरान ईश्वर-वाक्य है, कुरान में लिखी बातें ईश्वर के कानून हैं। बाइबिल के मानने वाले कहते हैं कि बाइबिल के वाक्य ईश्वरीय हैं, अतः जो बाइबिल में लिखा है, वह सत्य है। ऐसे ही अनेक मतों के लोगों की अनेक मान्यतायें हैं। फिर किसको माना जाय किसको न माना जाय? यदि वेद ईश्वर के कानून की डायरी होते, तो उनको सभी को मानना पड़ता, फिर कुरान, बाइबिल आदि के कानून न चलते। और यदि कुरान ईश्वर के कानून की डायरी होता, तो उसी का कानून सारे संसार में चलता, वेद आदि के न चलते इत्यादि। परन्तु वेद, कुरान, बाइबिल आदि के कानून को कोई मानता है, कोई नहीं मानता। अथवा कोई किसी को मानता है, कोई किसी को मानता है और कोई किसी को भी नहीं मानता।

एक साधारण राजाके कानून को भी देशके सब लोगों को मानना पड़ता है। फिर सर्व समर्थ माने हुए ईश्वर के कानून को लोग कैसे नहीं मानते? इसके अतिरिक्त वेद, कुरान तथा बाइबिल आदि ग्रन्थों में असम्भवादि दोषों से पूर्ण नाना वर्णन हैं। अतएव वेदादि सब ग्रन्थ मनुष्यों के रचे हैं। अपने मत को सर्वश्रेष्ठ एवं प्रामाणिक प्रतिपादन करने के लिये उक्त लोगों ने अपने वेदादिक ग्रन्थों को ईश्वर-रचित कह दिये हैं। अतएव सत्य निर्णय के

लिये सत्पुरुष-सत्शास्त्र के प्रमाण के साथ-साथ अपने विवेक का आधार लेना पड़ेगा।

नास्तिक कौन ?

वेद को न मानने वाले को, वेदवादी नास्तिक कहते हैं, तो कुरान को न मानने वाले को मुसलमान काफर कहते हैं। ईसाई लोग कहते हैं, जो प्रभु यीशु पर विश्वास नहीं करेगा, उसका उद्धार नहीं होगा। यहूदी कहते हैं यीशु में कोई सामर्थ्य नहीं। जैनी कहते हैं हमारे गुरु सुगुरु-सुदेव और अन्य के गुरु कुगुरु-कुदेव। बौद्ध कहते हैं जो बुद्ध का ज्ञान नहीं जाने वे अज्ञ पृथक्जन हैं।

एक वेदवाद ही में आर्य-समाजी अपने को छोड़कर अद्वैतवादी, वैष्णव आदि सबको वेद-विरुद्ध नास्तिक कहते हैं और अद्वैतवादी आर्यमत, कपिल एवं पतञ्जलिजी को वेद-विरुद्ध सिद्ध करके सत्यार्थ प्रकाश, सांख्य-दर्शन और योग दर्शन आदि को मान्यता नहीं देते। फिर किस आचार्य और मत को श्रेष्ठ एवं प्रामाणिक माना जाय और किसको झूठा माना जाय ?

वेदवादी कहते हैं जो वेद नहीं मानता, उसे देश से बाहर कर देना चाहिये, मुसलमान कहते हैं जो कुरान न माने उसे मार डालना चाहिये। जैनी कहते हैं जो जैन मत से पृथक् हैं, वे जन्में क्यों ? गर्भ में ही क्यों नहीं नष्ट हो

गये ? यह सब केवल पक्षपात है। जो किसी को भला-बुरा न कहकर सबके दोषों को त्यागता हुआ केवल सबके गुण लेता है, वही सत्यवादी और जनता का उद्धारक श्रेष्ठ आचार्य है।

इस दृष्टि से फिर केवल अन्धी श्रद्धा से किसके वाक्यों का प्रमाण मान लिया जाय ? अतएव इसी सिद्धान्त पर बात आकर ठहरती है कि—

श्लोक—युक्तियुक्तं वचो ग्राह्यं बालादपि शुकादपि।
युक्तिहीनं वचस्त्याज्यं वृद्धादपि शुकादपि॥

अर्थात्—युक्ति पूर्वक कहे हुए वचन बालक और तोते के भी ग्रहण करने योग्य हैं। परन्तु युक्ति-हीन वचन कोई विद्वान या शुकदेव जी ही कहें, तो भी सर्वथा त्यागने योग्य है।

"नास्तिको वेदनिन्दकः" कहने का बड़ा प्रचलन है। जो वेद की निन्दा करता है, वह नास्तिक है। निन्दा तो किसी की नहीं करनी चाहिये, फिर वेद की निन्दा करने वाला अवश्य बुरा है। परन्तु वेद के यदि हिंसाप्रयुक्त यज्ञों तथा नाना कल्पनाओं पर कोई आलोचना करता है, और उसे निन्दा समझ लिया जाय, तो ठीक नहीं। 'जैसे को तैसा कहै सो तो निन्दा नाहिं।" यदि विवेक युक्त आलोचना निन्दा है तो वैदिक, जैन, बौद्ध आदि सब दूसरे की आलोचना करते हैं। अतः सब निन्दक हुए।

वेदवादी जैसे "नास्तिको वेद निन्दकः" कह सकते हैं। वैसे जैनी "नास्तिको जैन निन्दकः" बौद्ध "नास्तिको बौद्ध निन्दकः" तथा मुसलमान "नास्तिको इस्लाम निन्दकः" कह सकते हैं। अतएव नास्तिक की यह अच्छी परिभाषा नहीं है।

कुछ लोग कहते हैं 'जो ईश्वर नहीं मानता, वह नास्तिक है।' जैन, सांख्य, मीमांसा, वैशेषिक-दर्शन ईश्वर नहीं मानते; परन्तु इन्हें नास्तिक नहीं कह सकते। क्योंकि ये सब प्रकृति (जड़तत्त्व) से परे अविनाशी चैतन्य का अस्तित्व मानते हैं, और पुनर्जन्म, कर्मफल-भोग तथा बन्ध-मोक्ष मानकर सदाचरण से चलना सिद्धान्त रखते हैं।

एक विद्वान का कथन है कि—"आस्था पर अवलम्बित ईश्वर को कई सूत्रकारों ने मान्य नहीं किया। सांख्य, वैशेषिक, मीमांसा निरीश्वर चिन्तन-प्रणालियाँ हैं। योग, पुरुष विशेष को ईश्वर, न्याय, केवल अनुमान के निष्कर्ष के रूप में; और अद्वैत-वेदान्त ईश्वर को माया का सहयोगी मात्र मानता है। अतः आस्तिक दर्शनों में ईश्वर को मानने न मानने के सम्बन्ध में कोई आग्रह नहीं है।

सांख्य के पुरुष-बहुत्व के सिद्धान्त से इसके मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण की पुष्टि होती है। सांख्य अनीश्वरवादी

सिद्धान्त है। कैवल्य-प्राप्ति ज्ञान से ही सम्भव है। सांख्य सत्कार्यवाद का समर्थक है।

वैशेषिक सूत्रों में स्पष्ट रूप से कहीं भी ईश्वर की सत्ता का निर्देश नहीं है............।

(मीमांसा)—हमारे जन्म-मरण का कर्ता हमारा अपूर्व है, न कि ईश्वर....।"

(विवेकज्योति वर्ष ४ अं० १। प्राध्यापक ब्रज विहारी निगम,
अध्यक्ष दर्शन विभाग, इन्दौर)

मुसलमान, ईशाई, यहूदी को भी हम नास्तिक नहीं कह सकते, क्योंकि ये सब प्रकृति से पार आत्मा-परमात्मा रूप में नित्य चेतन का अस्तित्व मानते हैं। पुनर्जन्म प्रायः नहीं मानते, परन्तु परलोक तथा कर्म फल-भोग मानते हैं। जैन को नास्तिक कहना, अपनी भूल प्रकट करना है। बौद्ध मतावलम्बी यद्यपि नित्य, अविनाशी-चेतन स्वरूप के शोध बोध में निर्बल हैं। तथापि पुनर्जन्म, कर्मफल-भोग, बन्ध-मोक्ष एवं ज्ञान-वैराग्य-सदाचरण मानते हैं। अतः ये भी नास्तिक नहीं। नास्तिक का शाब्दिक अर्थ होता है 'सत्य को न मानने वाला'। कहा है—

"है ताको माने नहीं, नाहीं को करे मान।
कहहिं कबीर पुकारि के, सो नास्तिक अज्ञान ॥"

(कबीरपरिचय)

सरल भावार्थ यह है कि जड़-प्रकृति से सर्वथा पृथक् नित्य चैतन्य-सत्ता, पुनर्जन्म, परलोक, कर्म-फल-भोग, बन्ध-मोक्ष न मानने वाले को नास्तिक कहते हैं, और इन्हें मानने वाले को आस्तिक कहते हैं। स्वामी श्री विवेकानन्द जी ने कहा है कि "पहले जमाने में जो ईश्वर को नहीं मानता था वह नास्तिक कहलाता था। परन्तु आज के जमाने में जो अपने आप को नहीं मानता, वह नास्तिक कहलाता है।" अपने आप का अभिप्राय यहाँ अपने चेतन स्वरूप से है।

नास्तिक वास्तव में चार्वाक-दर्शन है। चार्वाक का तात्पर्य यह है, कि जो चबाने-खाने पर तत्पर हो। अथवा जो चारु-वाक् कहने वाला हो। चारु-वाक् का तात्पर्य अज्ञानियों के समझने में जो सुन्दर लगे। यथा—

यावत् जीवं सुखं जीवेद् ऋणंकृत्वा घृतंपिवेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनम कुतः॥

अर्थात् जब तक जीयो सुख से जीयो, घर में पैसा न हो तो कर्ज लेकर घी पीयो। क्योंकि मरजाने पर शरीर भस्म हो जायगा, फिर कौन आता (जन्मता) है और कौन कर्म का बदला पटाता है? सब भ्रम है।'

इसे कहते हैं नास्तिकता! यदि यही शिक्षा सब मान लें और दूसरे से कर्ज लेकर कोई न दे, तो समाज की क्या

दशा होगी ? हाँ ! भारतीय नास्तिक था, इसलिये कर्ज लेकर घी ही पीने को कहा, शराब पीने को नहीं कहा। विदेशी नास्तिक होता तो शराब पीने का आदेश देता।

वेद-विचार

निस्सन्देह वेद[1] बहुत पुराने ग्रन्थ हैं, और उसमें सार भी बहुत हैं। परन्तु स्व-स्वरूप का यथार्थ ज्ञान और कल्याण का सीधा मार्ग, उसमें नहीं मिलेगा। वेदों में कर्मकाण्डों तथा स्वार्थिक सिद्धियों के लिये कल्पित देवी-देवताओं की स्तुतियों की भरमार है। वेदों के विषय में डा० श्री सम्पूर्णानन्दजी के पूर्व प्रमाण में ही कुछ विवेचन आ चुके हैं, वे एक अन्य सन्दर्भ में और कहते हैं—

"इस स्थान पर इस प्रश्न पर विचार कर लेना अनावश्यक न होगा कि वेद कहाँ तक प्रामाणिक हैं, अर्थात् आध्यात्मिक विषयों के सम्बन्ध में जो कुछ वेद में लिखा है उसको कहाँ तक प्रमाण मान लिया जाय। पहली बात तो यह है कि वेद में क्या कहा गया है यह स्वयं

१—वेद के अनुसार ही बाइबिल-कुरान सभी में भली बातें होते हुए भी हिंसा एवं कल्पना पूर्ण अनेक बातें भरी हैं और स्व-स्वरूप का यथार्थ ज्ञान उनमें भी नहीं है।

विवादास्पद है। एक ही मन्त्र के कई प्रकार के अर्थ लगाये जाते हैं।" इत्यादि,

[चिद्विलास-श्रुतिप्रामाण्याधिकरण]

श्रीमद्भागवत में वेदव्यास जी कहते हैं--

तथैव राजन्नुरुगार्हमेध वितान विद्योरुविजृम्भितेषु।
न वेदवादेषु हि तत्त्ववादः प्रायेण शुद्धोनुचकास्ति साधुः॥

(भागवत ५।११।२। सटीक गी० प्रे०)

अर्थः--"लौकिक व्यवहार के अनुसार ही वैदिक व्यवहार भी सत्य नहीं है। क्योंकि वेद-वाक्य भी विशेषतः गृहस्थजनोचित यज्ञविधि के विस्तार में ही व्यस्त हैं। राग-द्वेषादि दोषों से रहित विशुद्ध तत्त्वज्ञान की पूरी-पूरी अभिव्यक्ति प्रायः उनमें भी नहीं है।"

श्रीकृष्ण जी कहते हैं--

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः॥
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति॥
भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते॥

(गीता २।४२, ४३, ४४ टीकायुक्त गी० प्रे०)

अर्थ--"हे अर्जुन ! (जो) सकामी पुरुष केवल फल-श्रुति में प्रीति रखने वाले स्वर्ग को ही परम श्रेष्ठ मानने वाले (इससे बढ़कर) और कुछ नहीं है ऐसे कहने वाले हैं (वे) अविवेकी जन जन्म रूप कर्मफल देनेवाली (और) भोग तथा ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिये बहुत-सी क्रियाओं के विस्तार वाली इस प्रकार की जिस दिखाऊ शोभायुक्त वाणी को कहते हैं उस वाणी-द्वारा हरे हुए चित्त वाले (तथा) भोग और ऐश्वर्य में आसक्ति वाले (उन पुरुषों के) अन्तःकरण में निश्चयात्मक बुद्धि नहीं होती।"

त्रैगुण्यविषयावेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥

(गीता २।४५; टीकायुक्त गी० प्रे०)

अर्थः--"हे अर्जुन ! सब वेद तीनों गुणों के कार्य रूप संसार को विषय करने वाले अर्थात् प्रकाश करने वाले हैं (इसलिये तूं) असंसारी अर्थात् निष्कामी (और) सुख-दुःखादि द्वन्द्वों से रहित नित्य वस्तु में स्थित (तथा) योग-क्षेम[1] को न चाहने वाला (और) आत्मपरायण हो।"

यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥

(गीता २।४६, टी० गी० प्रे०)

१—संग्रह को योग और उसकी रक्षा को क्षेम कहते हैं।

अर्थः--"मनुष्य का सब ओर से परिपूर्ण जलाशय के प्राप्त होने पर छोटे जलाशय में जितना प्रयोजन रहता है अच्छी प्रकार ब्रह्म को जानने वाले ब्राह्मण का (भी) सब वेदों में उतना ही प्रयोजन रहता है।"

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम्।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा योगीपरंस्थानमुपैति चाद्यम् ॥
(गीता ८।२८, टी० यु० गी० प्रे०)

अर्थात्--"योगी पुरुष इस रहस्य को तत्त्व से जान कर वेदों के पढ़ने में तथा यज्ञ, तप (और) दानादिकों के करने में जो पुण्य-फल कहा है, उस सबको निस्सन्देह उलंघन कर जाता है और सनातन परम पद को प्राप्त होता है।"

अथर्ववेद की मुण्डक उपनिषद् में शौनक जी महर्षि अंगिरा से पूछते हैं—'जिसके जान लेने पर सब जाना हुआ हो जाता है, वह क्या है कृपया बतलाइये ?' उत्तर में महर्षि अंगिरा जी कहते हैं—

द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद्ब्रह्मविदो
वदन्ति परा चैवापरा च। (१।१।४)

अर्थः—"ब्रह्मको जानने वाले महर्षियों का कहना है कि मनुष्यों के लिये जानने योग्य दो विद्यायें हैं—एक तो 'परा' और दूसरी 'अपरा'।"

तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः
शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति ।
अथ परायया तदक्षरमधिगम्यते ॥

(१।१।५)

अर्थः—"उन दोनों में से ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द तथा ज्योतिष—ये सब तो अपराविद्या के अन्तर्गत हैं। और जिससे वह अविनाशी स्वरूप, तत्त्व से जाना जाता है—वह परा विद्या है।"

अभिप्राय यह कि चारों वेद तथा शिक्षा-कल्प आदि छहों वेदाङ्ग अपराविद्या एवं सांसारिक विद्या के अन्तर्गत हैं। अविनाशी स्वरूप का ज्ञान तथा मोक्ष-विषय वेद के बाहर की वस्तु है। यह सत्संग से प्राप्त होता है। योग-वाशिष्ठ में भी शम, सन्तोष, सत्संग और विचार मोक्ष के चार फाटक माने गये हैं। श्री गोस्वामी तुलसीदास जी भी कहते हैं—

जड़ चेतनहिं ग्रन्थि परि गई। यदपि मृषा छूटत कठिनई ॥
श्रुति पुराण बहु कहेउ उपाई। छूटि न अधिक अधिक अरुझाई

(रामचरित मानस उ० कां०)

अर्थः—जड़-चेतन का बन्धन पड़ा है, यद्यपि में वह वृथा है, परन्तु छूटने में कठिन है। वेद-पुराण बहुत उपाय

बताये, परन्तु छूटा नहीं; बल्कि अधिक-अधिक उलझता ही गया।' छूटने का उपाय क्या है ? इस पर बताते हैं—

मति कीरति गति भूति भलाई।
जब जेहि यतन जहाँ जेहि पाई॥
सो जानब सत्संग प्रभाऊ।
लोकहु वेद न आन उपाऊ॥

(रामचरित मानस बाल०कां०)

अर्थः—शुद्ध-बुद्धि, यश, मोक्ष, धन, भलाई—जब जिसने, जिस उद्योग से पाया है, वह सत्संग का ही प्रभाव जानना चाहिये। सत्संग के अतिरिक्त न लोक में उपाय है न वेद में।

श्री भर्तृहरि जी कहते हैं—

किं वेदैः स्मृतिभिः पुराणपठनैः शास्त्रैर्महाविस्तरैः
स्वर्गग्रामकुटीनिवासफलदैः कर्मक्रियाविभ्रमैः।
मुक्त्वैकं भवबन्धदुःखरचनाविध्वंसकालानलं
स्वात्मानन्दपदप्रवेशकलनं शेषा वणिग्वृत्तयः॥

(भर्तृहरि वैराग्यशतक श्लोक ८१ सटीक हरिदास वैद्य)

अर्थः—"वेद, स्मृति, पुराण और बड़े-बड़े शास्त्रों के पढ़ने तथा भिन्न-भिन्न प्रकार के कर्मकाण्ड करने से स्वर्ग में एक कुटिया की जगह प्राप्त करने के सिवा और क्या लाभ है ? स्वात्मानन्द रूपी गढ़ी में प्रवेश करने की चेष्टा

के सिवा, जो संसार-बन्धनों के काटने में प्रलयाग्नि के समान है, और सब काम व्यापारियों के-से काम हैं।"

प्रमाणवार्तिक स्ववृत्ति में कहा है—

वेदप्रामाण्यं कस्यचित् कर्तृवादः
स्नाने धर्मेच्छा जातिवादावलेपः।
संतापारंभः पापहानाय चेति
ध्वस्तप्रज्ञानां पंच लिङ्गानि जाड्ये॥
(१। २४२)

अर्थः—"वेद (=ग्रन्थ) की प्रमाणता, किसी (ईश्वर) का (सृष्टि-) कर्तापन (=कर्तृवाद), स्नान (करने) में धर्म (होने) की इच्छा रखना, जातिवाद (=छोटी-बड़ी जाति-पाँत) का घमण्ड, और पाप दूर करने के लिए (शरीर को) सन्ताप देना (=उपवास तथा शारीरिक तपस्याएँ करना)—ये पाँच हैं, अकल-मारे (लोगों) की मूर्खता (=जड़ता) की निशानियाँ।"

(दर्शन-दिग्दर्शन से)

अतएव लोक-वेद दोनों के पक्षों को परित्याग करके विवेकी सन्तों के सत्संग में सत्यस्वरूप-ज्ञान प्राप्त कर कल्याण-साधन में लगना चाहिये।

कुल-पशु[1] गुरु-पशु वेद-पशु, त्रिया-पशू ये चार।
मानुष ताको जानिये, जाहिं विवेक विचार॥

मूर्ति जड़ होने से कितने लोग उसकी पूजा का तो खण्डन करते हैं। परन्तु जड़ग्रन्थ की वे पूजा करते हैं। इस विषय पर लिखते हुए स्वामी विवेकानन्द जी बताते हैं—

"इस प्रतीक का एक जबर्दस्त अपितु सबसे बढ़कर उदाहरण है 'ग्रन्थ-पूजा'। प्रत्येक देश में हम यह पायेंगे कि 'ग्रन्थ' ने ईश्वर का स्थान ले रखा है। मेरे देश में कुछ ऐसे सम्प्रदाय हैं कि जिनका विश्वास है कि ईश्वर अवतार ले कर मनुष्य बनता है। परन्तु ईश्वर को अवतारी पुरुष बनकर वेदों के अनुसार चलना चाहिये। यदि उसके उपदेश वेदों से असंगत हैं, तो लोग उन उपदेशों को नहीं मानेंगे। बौद्ध के अतिरिक्त अन्य सम्प्रदाय वाले भी बुद्ध की पूजा करते हैं। परन्तु तुम उनसे यह कहो कि जब तुम बुद्ध की पूजा करते हो, तब उनके उपदेशों को क्यों नहीं मानते? तो यह उत्तर प्राप्त होगा कि 'उनके उपदेशों ने वेदों को अस्वीकार किया है।'

ग्रन्थ-पूजा का भी यही तात्पर्य है कि धर्मग्रन्थ की आड़ में कितनी ही मिथ्या बातें उचित हो सकती हैं। हिन्दुस्तान

१—पशु=पक्षपाती।

में यदि मैं किसी नयी बात की शिक्षा देना चाहूँ और उसे केवल अपनी ही समझ की प्रामाणिकता दूँ तो कोई भी व्यक्ति मेरी बात नहीं सुनेगा। परन्तु मैं वेद में से कुछ ऋचाएँ निकाल कर तथा उन्हीं का तोड़-मरोड़ करूँ, और उनका अत्यन्त असम्भव अर्थ भी निकालूँ, उसमें जो कुछ भी युक्ति-युक्त है, उसका गला घोटकर, स्वयं अपने विचारों को ही वेद का तात्पर्य कहकर प्रकट करूँ, तो सभी मूर्ख झुण्ड-के-झुण्ड मेरे पीछे फिरने लगेंगे।

फिर ऐसे मनुष्य भी हैं जो जोर के साथ ईशाई-धर्म का उपदेश करते हैं कि साधारण ईशाई उसे सुनकर घबड़ा उठेगा। परन्तु वे तो यही कहते हैं कि—'ईशामसीह' का यही तात्पर्य था और सभी मूर्ख उनके चारों ओर एकत्र हो जाते हैं। वे ऐसी कोई नयी बात नहीं सीखना चाहते, जो वेदों अथवा बाईबिल में न हो।"

(प्रेमयोग पृष्ठ ८०)

वेद किसके बनाये ?

पुस्तक का रचयिता मनुष्य ही होता है। विवेक से ईश्वर असिद्ध है। फिर उसका बनाया या दिया वेदादि सहजिक असिद्ध हैं। हिन्दू-मुसलमान-ईशाई तीनों अपने वेद, कुरान

तथा बाईबिल को आकाशीय या ईश्वरी पुस्तक कहते हैं। यह केवल अपने मत-प्रचार करने का पर्दा है।

वेदों के सूक्तों में ऋषियों के नाम आये हैं ये ऋषि ही इन सूक्तों के रचयिता होंगे। परन्तु वेदों के श्रद्धालु इन्हें मन्त्र-द्रष्टा कहते हैं, रचियता नहीं। वेदादि यदि ईश्वर के बनाये हैं, तो सर्वत्र क्यों नहीं चलते? इन सब बातों पर पहले विचार कर लिया गया है।

विवेक से यह सिद्ध होता है कि हृदय में निवास करने वाला जीव ही सभी मत-पथ-ग्रन्थों तथा मान्यताओं का स्वामी है; अतः वही ईश्वर है। वह सदा ज्ञानस्वरूप है। जब हम अच्छा काम करने चलते हैं, तब हृदय से आवाज उठती है 'करो' और जब हम बुरा कर्म करने चलते हैं, तब आवाज उठती है--'न करो'। यह 'करो-न करो' रूप विधि-निषेधात्मक जो हृदय की दो आवाजें हैं यही वेद हैं, वेद कहते हैं ज्ञान को।

सार यह हुआ कि जीव ही ईश्वर (स्वामी) है, और ज्ञान ही वेद है। जो उसका स्वाभाविक धर्म है। यह दूसरी बात है कि अनादि काल से जड़-सम्बन्ध के कारण अज्ञान का इतना आवरण हो गया है कि उस ज्ञान का यथार्थ आदर सब जीव नहीं कर पाते। सत्संग-विवेक-द्वारा कुछ काल में अन्तःकरण शुद्ध होने पर ज्ञान की पूर्ण स्थिति होती है।

कुरान के मानने वाले कहते हैं कि कुरान ईश्वर-वाक्य है, कुरान में लिखी बातें ईश्वर के कानून हैं। बाइबिल के मानने वाले कहते हैं कि बाइबिल के वाक्य ईश्वरीय हैं, अतः जो बाइबिल में लिखा है, वह सत्य है। ऐसे ही अनेक मतों के लोगों की अनेक मान्यतायें हैं। फिर किसको माना जाय किसको न माना जाय ? यदि वेद ईश्वर के कानून की डायरी होते, तो उनको सभी को मानना पड़ता, फिर कुरान, बाइबिल आदि के कानून न चलते। और यदि कुरान ईश्वर के कानून की डायरी होता, तो उसी का कानून सारे संसार में चलता, वेद आदि के न चलते इत्यादि। परन्तु वेद, कुरान, बाइबिल आदि के कानून को कोई मानता है, कोई नहीं मानता। अथवा कोई किसी को मानता है, कोई किसी को मानता है और कोई किसी को भी नहीं मानता।

एक साधारण राजाके कानून को भी देशके सब लोगों को मानना पड़ता है। फिर सर्व समर्थ माने हुए ईश्वर के कानून को लोग कैसे नहीं मानते ? इसके अतिरिक्त वेद, कुरान तथा बाइबिल आदि ग्रन्थों में असम्भवादि दोषों से पूर्ण नाना वर्णन हैं। अतएव वेदादि सब ग्रन्थ मनुष्यों के रचे हैं। अपने मत को सर्वश्रेष्ठ एवं प्रामाणिक प्रतिपादन करने के लिये उक्त लोगों ने अपने वेदादिक ग्रन्थों को ईश्वर-रचित कह दिये हैं। अतएव सत्य निर्णय के

लिये सत्पुरुष-सत्शास्त्र के प्रमाण के साथ-साथ अपने विवेक का आधार लेना पड़ेगा।

नास्तिक कौन ?

वेद को न मानने वाले को, वेदवादी नास्तिक कहते हैं, तो कुरान को न मानने वाले को मुसलमान काफर कहते हैं। ईसाई लोग कहते हैं, जो प्रभु यीशु पर विश्वास नहीं करेगा, उसका उद्धार नहीं होगा। यहूदी कहते हैं यीशु में कोई सामर्थ्य नहीं। जैनी कहते हैं हमारे गुरु सुगुरु-सुदेव और अन्य के गुरु कुगुरु-कुदेव। बौद्ध कहते हैं जो बुद्ध का ज्ञान नहीं जाने वे अज्ञ पृथक्जन हैं।

एक वेदवाद ही में आर्य-समाजी अपने को छोड़कर अद्वैतवादी, वैष्णव आदि सबको वेद-विरुद्ध नास्तिक कहते हैं और अद्वैतवादी आर्यमत, कपिल एवं पतञ्जलिजी को वेद-विरुद्ध सिद्ध करके सत्यार्थ प्रकाश, सांख्य-दर्शन और योग दर्शन आदि को मान्यता नहीं देते। फिर किस आचार्य और मत को श्रेष्ठ एवं प्रामाणिक माना जाय और किसको झूठा माना जाय ?

वेदवादी कहते हैं जो वेद नहीं मानता, उसे देश से बाहर कर देना चाहिये, मुसलमान कहते हैं जो कुरान न माने उसे मार डालना चाहिये। जैनी कहते हैं जो जैन मत से पृथक् हैं, वे जन्में क्यों ? गर्भ में ही क्यों नहीं नष्ट हो

गये ? यह सब केवल पक्षपात है। जो किसी को भला-बुरा न कहकर सबके दोषों को त्यागता हुआ केवल सबके गुण लेता है, वही सत्यवादी और जनता का उद्धारक श्रेष्ठ आचार्य है।

इस दृष्टि से फिर केवल अन्धी श्रद्धा से किसके वाक्यों का प्रमाण मान लिया जाय ? अतएव इसी सिद्धान्त पर बात आकर ठहरती है कि—

श्लोक—युक्तियुक्तं वचो ग्राह्यं बालादपि शुकादपि।
युक्तिहीनं वचस्त्याज्यं वृद्धादपि शुकादपि॥

अर्थात्—युक्ति पूर्वक कहे हुए वचन बालक और तोते के भी ग्रहण करने योग्य हैं। परन्तु युक्ति-हीन वचन कोई विद्वान या शुकदेव जी ही कहें, तो भी सर्वथा त्यागने योग्य है।

"नास्तिको वेदनिन्दकः" कहने का बड़ा प्रचलन है। जो वेद की निन्दा करता है, वह नास्तिक है। निन्दा तो किसी की नहीं करनी चाहिये, फिर वेद की निन्दा करने वाला अवश्य बुरा है। परन्तु वेद के यदि हिंसाप्रयुक्त यज्ञों तथा नाना कल्पनाओं पर कोई आलोचना करता है, और उसे निन्दा समझ लिया जाय, तो ठीक नहीं। "जैसे को तैसा कहै सो तो निन्दा नाहिं।" यदि विवेक युक्त आलोचना निन्दा है तो वैदिक, जैन, बौद्ध आदि सब दूसरे की आलोचना करते हैं। अतः सब निन्दक हुए।

वेदवादी जैसे "नास्तिको वेद निन्दकः" कह सकते हैं। वैसे जैनी "नास्तिको जैन निन्दकः" बौद्ध "नास्तिको बौद्ध निन्दकः" तथा मुसलमान "नास्तिको इस्लाम निन्दकः" कह सकते हैं। अतएव नास्तिक की यह अच्छी परिभाषा नहीं है।

कुछ लोग कहते हैं 'जो ईश्वर नहीं मानता, वह नास्तिक है।' जैन, सांख्य, मीमांसा, वैशेषिक-दर्शन ईश्वर नहीं मानते; परन्तु इन्हें नास्तिक नहीं कह सकते। क्योंकि ये सब प्रकृति (जड़तत्त्व) से परे अविनाशी चैतन्य का अस्तित्त्व मानते हैं, और पुनर्जन्म, कर्मफल-भोग तथा बन्ध-मोक्ष मानकर सदाचरण से चलना सिद्धान्त रखते हैं।

एक विद्वान का कथन है कि—"आस्था पर अवलम्बित ईश्वर को कई सूत्रकारों ने मान्य नहीं किया। सांख्य, वैशेषिक, मीमांसा निरीश्वर चिन्तन-प्रणालियाँ हैं। योग, पुरुष विशेष को ईश्वर, न्याय, केवल अनुमान के निष्कर्ष के रूप में; और अद्वैत-वेदान्त ईश्वर को माया का सहयोगी मात्र मानता है। अतः आस्तिक दर्शनों में ईश्वर को मानने न मानने के सम्बन्ध में कोई आग्रह नहीं है।

सांख्य के पुरुष-बहुत्व के सिद्धान्त से इसके मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण की पुष्टि होती है। सांख्य अनीश्वरवादी

सिद्धान्त है। कैवल्य-प्राप्ति ज्ञान से ही सम्भव है। सांख्य सत्कार्यवाद का समर्थक है।

वैशेषिक सूत्रों में स्पष्ट रूप से कहीं भी ईश्वर की सत्ता का निर्देश नहीं है............।

(मीमांसा)—हमारे जन्म-मरण का कर्ता हमारा अपूर्व है, न कि ईश्वर.....।"

(विवेकज्योति वर्ष ४ अं० १। प्राध्यापक ब्रज विहारी निगम, अध्यक्ष दर्शन विभाग, इन्दौर)

मुसलमान, ईशाई, यहूदी को भी हम नास्तिक नहीं कह सकते, क्योंकि ये सब प्रकृति से पार आत्मा-परमात्मा रूप में नित्य चेतन का अस्तित्त्व मानते हैं। पुनर्जन्म प्रायः नहीं मानते, परन्तु परलोक तथा कर्म फल भोग मानते हैं। जैन को नास्तिक कहना, अपनी भूल प्रकट करना है। बौद्ध मतावलम्बी यद्यपि नित्य, अविनाशी-चेतन स्वरूप के शोध बोध में निर्बल हैं। तथापि पुनर्जन्म, कर्मफल-भोग, बन्ध-मोक्ष एवं ज्ञान-वैराग्य-सदाचरण मानते हैं। अतः ये भी नास्तिक नहीं। नास्तिक का शाब्दिक अर्थ होता है 'सत्य को न मानने वाला'। कहा है—

"है ताको माने नहीं, नाहीं को करे मान।
कहहिं कबीर पुकारि के, सो नास्तिक अज्ञान॥"

(कबीरपरिचय)

सरल भावार्थ यह है कि जड़-प्रकृति से सर्वथा पृथक् नित्य चैतन्य-सत्ता, पुनर्जन्म, परलोक, कर्म-फल-भोग, बन्ध-मोक्ष न मानने वाले को नास्तिक कहते हैं, और इन्हें मानने वाले को आस्तिक कहते हैं। स्वामी श्री विवेकानन्द जी ने कहा है कि "पहले जमाने में जो ईश्वर को नहीं मानता था वह नास्तिक कहलाता था। परन्तु आज के जमाने में जो अपने आप को नहीं मानता, वह नास्तिक कहलाता है।" अपने आप का अभिप्राय यहाँ अपने चेतन स्वरूप से है।

नास्तिक वास्तव में चार्वाक-दर्शन है। चार्वाक का तात्पर्य यह है, कि जो चबाने-खाने पर तत्पर हो। अथवा जो चारु-वाक् कहने वाला हो। चारु-वाक् का तात्पर्य अज्ञानियों के समझने में जो सुन्दर लगे। यथा—

यावत् जीवं सुखं जीवेद् ऋणंकृत्वा घृतंपिवेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनम कुतः॥

अर्थात् जब तक जीयो सुख से जीयो, घर में पैसा न हो तो कर्ज लेकर घी पीयो। क्योंकि मरजाने पर शरीर भस्म हो जायगा, फिर कौन आता (जन्मता) है और कौन कर्म का बदला पटाता है ? सब भ्रम है।'

इसे कहते हैं नास्तिकता ! यदि यही शिक्षा सब मान लें और दूसरे से कर्ज लेकर कोई न दे, तो समाज की क्या

दशा होगी ? हाँ ! भारतीय नास्तिक था, इसलिये कर्ज लेकर घी ही पीने को कहा, शराब पीने को नहीं कहा। विदेशी नास्तिक होता तो शराब पीने का आदेश देता।

वेद-विचार

निस्सन्देह वेद[1] बहुत पुराने ग्रन्थ हैं, और उसमें सार भी बहुत हैं। परन्तु स्व-स्वरूप का यथार्थ ज्ञान और कल्याण का सीधा मार्ग, उसमें नहीं मिलेगा। वेदों में कर्मकाण्डों तथा स्वार्थिक सिद्धियों के लिये कल्पित देवी-देवताओं की स्तुतियों की भरमार है। वेदों के विषय में डा० श्री सम्पूर्णानन्दजी के पूर्व प्रमाण में ही कुछ विवेचन आ चुके हैं, वे एक अन्य सन्दर्भ में और कहते हैं—

"इस स्थान पर इस प्रश्न पर विचार कर लेना अनावश्यक न होगा कि वेद कहाँ तक प्रामाणिक हैं, अर्थात् आध्यात्मिक विषयों के सम्बन्ध में जो कुछ वेद में लिखा है उसको कहाँ तक प्रमाण मान लिया जाय। पहली बात तो यह है कि वेद में क्या कहा गया है यह स्वयं

१—वेद के अनुसार ही बाइबिल-कुरान सभी में भली बातें होते हुए भी हिंसा एवं कल्पना पूर्ण अनेक बातें भरी हैं और स्व-स्वरूप का यथार्थ ज्ञान उनमें भी नहीं है।

विवादास्पद है । एक ही मन्त्र के कई प्रकार के अर्थ लगाये जाते हैं ।" इत्यादि,

[चिद्विलास-श्रुतिप्रामाण्याधिकरण]

श्रीमद्भागवत में वेदव्यास जी कहते हैं--

तथैव राजन्नुरुगार्हमेध वितान विद्योरुविजृम्भितेषु ।
न वेदवादेषु हि तत्त्ववादः प्रायेण शुद्धोनुचकास्ति साधुः ॥

(भागवत ५।११।२। सटीक गी० प्रे०)

अर्थः--"लौकिक व्यवहार के अनुसार ही वैदिक व्यवहार भी सत्य नहीं है । क्योंकि वेद-वाक्य भी विशेषतः गृहस्थजनोचित यज्ञविधि के विस्तार में ही व्यस्त हैं । राग-द्वेषादि दोषों से रहित विशुद्ध तत्त्वज्ञान की पूरी-पूरी अभिव्यक्ति प्रायः उनमें भी नहीं है ।"

श्रीकृष्ण जी कहते हैं--

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः ।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ॥
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम् ।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥
भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम् ।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥

(गीता २।४२, ४३, ४४ टीकायुक्तगो० प्रे०)

अर्थ--"हे अर्जुन ! (जो) सकामी पुरुष केवल फल-श्रुति में प्रीति रखने वाले स्वर्ग को ही परम श्रेष्ठ मानने वाले (इससे बढ़कर) और कुछ नहीं है ऐसे कहने वाले हैं (वे) अविवेकी जन जन्म रूप कर्मफल देनेवाली (और) भोग तथा ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिये बहुत-सी क्रियाओं के विस्तार वाली इस प्रकार की जिस दिखाऊ शोभायुक्त वाणी को कहते हैं उस वाणी-द्वारा हरे हुए चित्त वाले (तथा) भोग और ऐश्वर्य में आसक्ति वाले (उन पुरुषों के) अन्तःकरण में निश्चयात्मक बुद्धि नहीं होती।"

त्रैगुण्यविषयावेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥

(गीता २।४५; टीकायुक्त गी० प्रे०)

अर्थः--"हे अर्जुन ! सब वेद तीनों गुणों के कार्य रूप संसार को विषय करने वाले अर्थात् प्रकाश करने वाले हैं (इसलिये तूं) असंसारी अर्थात् निष्कामी (और) सुख-दुःखादि द्वन्द्वों से रहित नित्य वस्तु में स्थित (तथा) योग-क्षेम[1] को न चाहने वाला (और) आत्मपरायण हो।"

यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥

(गीता २।४६, टी० गी० प्रे०)

१—संग्रह को योग और उसकी रक्षा को क्षेम कहते हैं।

अर्थः--"मनुष्य का सब ओर से परिपूर्ण जलाशय के प्राप्त होने पर छोटे जलाशय में जितना प्रयोजन रहता है अच्छी प्रकार ब्रह्म को जानने वाले ब्राह्मण का (भी) सब वेदों में उतना ही प्रयोजन रहता है।"

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम्।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा योगीपरंस्थानमुपैति चाद्यम्॥

(गीता ८।२८, टी० यु० गी० प्रे०)

अर्थात्--"योगी पुरुष इस रहस्य को तत्त्व से जान कर वेदों के पढ़ने में तथा यज्ञ, तप (और) दानादिकों के करने में जो पुण्य-फल कहा है, उस सबको निस्सन्देह उलंघन कर जाता है और सनातन परम पद को प्राप्त होता है।"

अथर्ववेद की मुण्डक उपनिषद् में शौनक जी महर्षि अंगिरा से पूछते हैं—'जिसके जान लेने पर सब जाना हुआ हो जाता है, वह क्या है कृपया बतलाइये?' उत्तर में महर्षि अंगिरा जी कहते हैं—

द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद्ब्रह्मविदो
वदन्ति परा चैवापरा च। (१।१।४)

अर्थः—"ब्रह्मको जानने वाले महर्षियों का कहना है कि मनुष्यों के लिये जानने योग्य दो विद्यायें हैं—एक तो 'परा' और दूसरी 'अपरा'।"

तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः
शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति ।
अथ परायया तदक्षरमधिगम्यते ॥

(१।१।५)

अर्थः—"उन दोनों में से ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द तथा ज्योतिष—ये सब तो अपराविद्या के अन्तर्गत हैं। और जिससे वह अविनाशी स्वरूप, तत्त्व से जाना जाता है—वह परा विद्या है।"

अभिप्राय यह कि चारों वेद तथा शिक्षा-कल्प आदि छहों वेदाङ्ग अपराविद्या एवं सांसारिक विद्या के अन्तर्गत हैं। अविनाशी स्वरूप का ज्ञान तथा मोक्ष-विषय वेद के बाहर की वस्तु है। यह सत्संग से प्राप्त होता है। योग-वाशिष्ठ में भी शम, सन्तोष, सत्संग और विचार मोक्ष के चार फाटक माने गये हैं। श्री गोस्वामी तुलसीदास जी भी कहते हैं—

जड़ चेतनहिं ग्रन्थि परि गई। यदपि मृषा छूटत कठिनई ॥
श्रुति पुराण बहु कहेउ उपाई। छूटि न अधिक अधिक अरुझाई ॥

(रामचरित मानस उ० कां०)

अर्थः—जड़-चेतन का बन्धन पड़ा है, यद्यपि में वह वृथा है, परन्तु छूटने में कठिन है। वेद-पुराण बहुत उपाय

बताये, परन्तु छूटा नहीं; बल्कि अधिक-अधिक उलझता ही गया।' छूटने का उपाय क्या है ? इस पर बताते हैं—

मति कीरति गति भूति भलाई।
जब जेहि यतन जहाँ जेहि पाई॥
सो जानब सत्संग प्रभाऊ।
लोकहु वेद न आन उपाऊ॥

(रामचरित मानस बा०कां०)

अर्थः—शुद्ध-बुद्धि, यश, मोक्ष, धन, भलाई—जब जिसने, जिस उद्योग से पाया है, वह सत्संग का ही प्रभाव जानना चाहिये। सत्संग के अतिरिक्त न लोक में उपाय है न वेद में।

श्री भर्तृहरि जी कहते हैं—

किं वेदैः स्मृतिभिः पुराणपठनैः शास्त्रैर्महाविस्तरैः
स्वर्गग्रामकुटीनिवासफलदैः कर्मक्रियाविभ्रमैः।
मुक्त्वैकं भवबन्धदुःखरचनाविध्वंसकालानलं
स्वात्मानन्दपदप्रवेशकलनं शेषा वणिग्वृत्तयः॥

(भर्तृहरि वैराग्यशतक श्लोक ८१ सटीक हरिदास वैद्य)

अर्थः—"वेद, स्मृति, पुराण और बड़े-बड़े शास्त्रों के पढ़ने तथा भिन्न-भिन्न प्रकार के कर्मकाण्ड करने से स्वर्ग में एक कुटिया की जगह प्राप्त करने के सिवा और क्या लाभ है ? स्वात्मानन्द रूपी गढ़ी में प्रवेश करने की चेष्टा

के सिवा, जो संसार-बन्धनों के काटने में प्रलयाग्नि के समान है, और सब काम व्यापारियों के-से काम हैं।"
प्रमाणवार्तिक स्ववृत्ति में कहा है—

वेदप्रामाण्यं कस्यचित् कर्तृवादः
स्नाने धर्मेच्छा जातिवादावलेपः।
संतापारंभः पापहानाय चेति
ध्वस्तप्रज्ञानां पंच लिङ्गानि जाड्ये ॥

(१। ३४२)

अर्थः—"वेद (=ग्रन्थ) की प्रमाणता, किसी (ईश्वर) का (सृष्टि-) कर्तापन (=कर्तृवाद), स्नान (करने) में धर्म (होने) की इच्छा रखना, जातिवाद (=छोटी-बड़ी जाति-पाँत) का घमण्ड, और पाप दूर करने के लिए (शरीर को) सन्ताप देना (=उपवास तथा शारीरिक तपस्याएँ करना)—ये पाँच हैं, अकल-मारे (लोगों) की मूर्खता (=जड़ता) की निशानियाँ।"

(दर्शन-दिग्दर्शन से)

अतएव लोक-वेद दोनों के पक्षों को परित्याग करके विवेकी सन्तों के सत्संग में सत्यस्वरूप-ज्ञान प्राप्त कर कल्याण-साधन में लगना चाहिये।

कुल-पशु[1] गुरु-पशु वेद-पशु, क्रिया-पशू ये चार।
मानुष ताको जानिये, जाहिं विवेक विचार॥

मूर्ति जड़ होने से कितने लोग उसकी पूजा का तो खण्डन करते हैं। परन्तु जड़ग्रन्थ की वे पूजा करते हैं। इस विषय पर लिखते हुए स्वामी विवेकानन्द जी बताते हैं—

"इस प्रतीक का एक जबर्दस्त अपितु सबसे बढ़कर उदाहरण है 'ग्रन्थ-पूजा'। प्रत्येक देश में हम यह पायेंगे कि 'ग्रन्थ' ने ईश्वर का स्थान ले रखा है। मेरे देश में कुछ ऐसे सम्प्रदाय हैं कि जिनका विश्वास है कि ईश्वर अवतार ले कर मनुष्य बनता है। परन्तु ईश्वर को अवतारी पुरुष बनकर वेदों के अनुसार चलना चाहिये। यदि उसके उपदेश वेदों से असंगत हैं, तो लोग उन उपदेशों को नहीं मानेंगे। बौद्ध के अतिरिक्त अन्य सम्प्रदाय वाले भी बुद्ध की पूजा करते हैं। परन्तु तुम उनसे यह कहो कि जब तुम बुद्ध की पूजा करते हो, तब उनके उपदेशों को क्यों नहीं मानते ? तो यह उत्तर प्राप्त होगा कि 'उनके उपदेशों ने वेदों को अस्वीकार किया है।'

ग्रन्थ-पूजा का भी यही तात्पर्य है कि धर्मग्रन्थ की आड़ में कितनी ही मिथ्या बातें उचित हो सकती हैं। हिन्दुस्तान

१—पशु=पक्षपाती।

में यदि मैं किसी नयी बात की शिक्षा देना चाहूँ और उसे केवल अपनी ही समझ की प्रामाणिकता दूँ तो कोई भी व्यक्ति मेरी बात नहीं सुनेगा। परन्तु मैं वेद में से कुछ ऋचाएँ निकाल कर तथा उन्हीं का तोड़-मरोड़ करूँ, और उनका अत्यन्त असम्भव अर्थ भी निकालूँ, उसमें जो कुछ भी युक्ति-युक्त है, उसका गला घोटकर स्वयं अपने विचारों को ही वेद का तात्पर्य कहकर प्रकट करूँ, तो सभी मूर्ख झुण्ड-के-झुण्ड मेरे पीछे फिरने लगेंगे।

फिर ऐसे मनुष्य भी हैं जो जोर के साथ ईशाई-धर्म का उपदेश करते हैं कि साधारण ईशाई उसे सुनकर घबड़ा उठेगा। परन्तु वे तो यही कहते हैं कि—'ईशामसीह' का यही तात्पर्य था और सभी मूर्ख उनके चारों ओर एकत्र हो जाते हैं। वे ऐसी कोई नयी बात नहीं सीखना चाहते, जो वेदों अथवा बाईबिल में न हो।"

(प्रेमयोग पृष्ठ ८०)

वेद किसके बनाये ?

पुस्तक का रचयिता मनुष्य ही होता है। विवेक से ईश्वर असिद्ध है। फिर उसका बनाया या दिया वेदादि सहजिक असिद्ध हैं। हिन्दू-मुसलमान-ईशाई तीनों अपने वेद, कुरान

तथा बाईबिल को आकाशीय या ईश्वरी पुस्तक कहते हैं। यह केवल अपने मत-प्रचार करने का पर्दा है।

वेदों के सूक्तों में ऋषियों के नाम आये हैं ये ऋषि ही इन सूक्तों के रचयिता होंगे। परन्तु वेदों के श्रद्धालु इन्हें मन्त्र-द्रष्टा कहते हैं, रचियता नहीं। वेदादि यदि ईश्वर के बनाये हैं, तो सर्वत्र क्यों नहीं चलते? इन सब बातों पर पहले विचार कर लिया गया है।

विवेक से यह सिद्ध होता है कि हृदय में निवास करने वाला जीव ही सभी मत-पथ-ग्रन्थों तथा मान्यताओं का स्वामी है; अतः वही ईश्वर है। वह सदा ज्ञानस्वरूप है। जब हम अच्छा काम करने चलते हैं, तब हृदय से आवाज उठती है 'करो' और जब हम बुरा कर्म करने चलते हैं, तब आवाज उठती है-- 'न करो'। यह 'करो-न करो' रूप विधि-निषेधात्मक जो हृदय की दो आवाजें हैं यही वेद हैं, वेद कहते हैं ज्ञान को।

सार यह हुआ कि जीव ही ईश्वर (स्वामी) है, और ज्ञान ही वेद है। जो उसका स्वाभाविक धर्म है। यह दूसरी बात है कि अनादि काल से जड़-सम्बन्ध के कारण अज्ञान का इतना आवरण हो गया है कि उस ज्ञान का यथार्थ आदर सब जीव नहीं कर पाते। सत्संग-विवेक-द्वारा कुछ काल में अन्तःकरण शुद्ध होने पर ज्ञान की पूर्ण स्थिति होती है।

क्या बहुत पढ़ा ही ज्ञानी हो सकता है ?

कुछ भाइयों को यह पूर्ण भ्रम है कि जो अंग्रेजी-संस्कृत आदि का बहुत पढ़ा-लिखा है, वही यथार्थ का ज्ञानी हो सकता है। परन्तु यह कोरा भ्रम है। बड़े-बड़े प्रकाण्ड विद्वान् देखे जाते हैं, उनका मांसाहार-शराबपान तक नहीं छूटा रहता है। कितने विद्वान् छल-कपट-धूर्तता करने में चंट होते हैं।

हिन्दू-मुसलमान, ईशाई-यहूदी, जैन-बौद्ध, सनातनी-आर्य समाजी, वेदान्ती आदि में बहुत बड़े-बड़े विद्वान् हैं। फिर उन सबका एक मत क्यों नहीं होता? कपिल, जैमिनि, कणाद, पतञ्जलि, गौतम तथा वेदव्यास जैसे महारथी विद्वानों का एकमत क्यों नहीं ? सांख्य में अद्वैत का खण्डन तो वेदान्त में सांख्य का खण्डन।

शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, माध्वाचार्य, दयानन्द सरस्वती आदि सभी एक-से-एक विद्वान् हैं। सब वेद के ज्ञाता हैं। अब इनमें कौन वेद को समझा और कौन नहीं समझा; जबकि सब अपने को वैदिक और दूसरे को वेद-विरोधी कहते हैं।

चौबीस हजार श्लोकों में रामायण रचने वाले महान् विद्वान् आदि कवि बाल्मीकि जी लिखते हैं कि सीता की खोज लगाने के लिये केवल हनुमान जी दश अरब सेना लेकर आये। और सुग्रीव-दल के सेनापति कई पद्म-शंख सेना लाये।

गोस्वामी तुलसीदास जी भी लिखते हैं कि—

अस मैं कान सुना दशकन्धर।
पदुम अठारह यूथप बन्दर॥

अर्थात् केवल रामादल में अठारह पद्म सेनापति थे। विचार करना चाहिये कि एक सेनापति के पीछे यदि सौ ही सिपाही रहे होंगे, तो भी अठारह सौ पद्म सेना हुई। कहते हैं रामादल सब स्वर्ग के देवता थे। परन्तु देवता तो सब तैंतीस कोटि (करोड़) ही माने गये हैं। फिर अठारह पद्म केवल सेनापति ही कहाँ से आ गये। और राम-रावण की लड़ाई में राम की विजय पर तो आकाश से देवतागण फूल बरसाते और बाजे बजाते थे, तो सेना बनकर लड़ता कौन था? गीता-प्रेस के बाल्मीकीय रामायण पृष्ठ सात सौ अठहत्तर में लिखा है कि लंका में दश खरब, तीन लाख निन्नानवे हजार छ-सौ सेना थी।

श्रीमद्भागवत स्कन्ध १० अध्याय ६० श्लोक ४१-४२ में लिखा है कि यदुवंश के बालकों को शिक्षा देने के लिये तीन करोड़ अठ्ठासी लाख केवल अध्यापक थे और महाराज उग्रसैन के एक नील सेना थी। इन बातों को विचारना चाहिये कि आज-कल की बढ़ती हुई जन-संख्या में सारे संसार में केवल चार अरब के भीतर मनुष्य हैं। फिर ऊपर की बातें कहाँ तक सत्यता रख सकती हैं?

राजा प्रियव्रत ग्यारह अरब वर्ष राज्य किये (भागवत

५ । १ । २६)। राजा प्रियव्रत के रथ की पहिया के चलने से उसकी लीक के सातों समुद्र बन गये (भागवत ५ । १ । ३१)। कश्यप की स्त्रियों से मनुष्य, पशु, घोड़े-गधे, साँप, बिच्छू, सिंह तथा पेड़, पौधे हुए (भा० ६ । ६ ।)। मत्स्य-अवतार भगवान के शरीर का विस्तार आठ लाख मील था (भा० ८ । २४ । ४४)। जबकि आज वैज्ञानिक पृथ्वी का पूरा घेरा चोबीस हजार मील सिद्ध किये हैं।

मन्दराचल के मध्य में अट्ठासी हजार मील ऊँचा एक आम का पेड़ है, जिसमें पर्वत-शिखर के समान मोटे फल अमृत तुल्य लगे हैं (भा० ५ । १६) जम्बूदीप में एक सोने का पर्वत आठ लाख मील ऊँचा है (भा० ५ । १६) ७) महाभारत-युद्ध में एकबार कर्ण के रथ की पहिया धँस गयी थी। कर्ण ने रथ से उतर कर तथा पहिया पकड़ कर इस बल से उभारा कि सातों द्वीपों-सहित तथा शैल-वन-कानन समेत पृथ्वी चार अंगुल उठ गयी, फिर भी पहिया न छूटा (महाभारत कर्ण पर्व)

इसी प्रकार ईशाई-मुसलमान, जैन--बौद्धादि में भी विचित्र-विचित्र कल्पनायें विद्वानों ने की हैं। आज-कल के अंग्रेजी-विद्वानों ने भी बन्दर से मनुष्यों का विकास तथा मनुष्यों से बन्दरों के विकास की कल्पना की है। स्वामी श्री दयानन्द जी महाराज जैसे तार्किक भी वेद-ईश्वर के समर्थन में पड़कर सृष्टि को आदि सिद्ध करने में

तिब्बत देश में प्रथम अयोनिज जवान-जवान स्त्री-पुरुषों एवं नर-मादाओं की उत्पत्ति करडाली है।

उपर्युक्त बातों पर विनम्र होकर निष्पक्ष विचार करना चाहिये। यदि बहुत पढ़े मात्र से ज्ञान होता, तो इन मतवादियों को सब बातों में यथार्थ ज्ञान होकर एकमत हो गया होता।

भाव यह है कि यथार्थ ज्ञान और आचरण केवल किसी भाषा के विद्वान ही को नहीं होता। इसके लिये सत्संग, हृदय-शुद्धि, विवेक-बुद्धि एवं निष्पक्षता की महान आवश्यकता है।

स्व-स्वरूप चेतन जीव ही सर्वोपर है

प्रत्येक घटों में निवास करने वाले इन भिन्न-भिन्न अविनाशी चेतनजीवों से पृथक् ईश्वर है—यह बात विवेक के अनुकूल नहीं, सद्गुरु कबीर कहते हैं—

"हृदय बसे तेहि राम न जाना।"
"कहहिं कबीर खोजै असमाना।"

"जेहि खोजत कल्पौ गया, घटही माहिं सो मूर।
बाढ़ी गर्भ गुमान ते, ताते परिगई दूर॥"

(बीजक)

जो लोग अपने से पृथक ईश्वर मानते हैं, उनमें से भी अधिकांशतः लोग किसी-न-किसी रूप में कह बैठते हैं कि

'आत्मा ही परमात्मा है।' ऐसे थोड़े उदाहरण मैं नीचे देता हूँ—

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः॥

(गीता १३।२२)

अर्थः—इस देह में रहते हुए भी चेतन पुरुष इससे परे है; द्रष्टा, प्रेरक, भर्ता, भोक्ता, महेश्वर और परमात्मा है।

अयमात्मा परमेश्वरो भवितुमर्हति। ज्ञानक्रिया शक्तिमत्त्वात्। यो यावति ज्ञाता कर्ता च स तावतीश्वरः प्रसिद्धेश्वरवद्राजवद्वा। आत्मा च विश्वज्ञाताकर्ता च। तस्मादीश्वरोऽयम्॥

(प्रत्यभिज्ञादर्शन, सर्व दर्शन संग्रह सटीक पृष्ट ३५९)

अर्थः— "(१) यह आत्मा परमेश्वर बनने में समर्थ है। (२) क्योंकि इसके पास ज्ञान और क्रिया की शक्तियाँ हैं। (३) जो जितनी चीजों का ज्ञाता और कर्ता होता है, वह उतनी चीजों के लिये ईश्वर (स्वामी) है, जैसे संसार-प्रसिद्ध ईश्वर (मण्डलेश्वर, नरेश आदि) हैं, या राज लोग होते हैं। (४) आत्मा संसार का ज्ञाता और कर्ता है। (५) इसलिये यह आत्मा ईश्वर है।"

जीवः परमात्मन्नभिद्यते। अयमात्मा ब्रह्म।
अहं ब्रह्मास्मि। तत्त्वमसि॥

अर्थः—जीव और परमात्मा दो नहीं। यह आत्मा ही ब्रह्म है। मैं ही ब्रह्म हूँ। वह तू ही है।

जीवो ब्रह्मैव नाऽपरः।

अर्थः—जीव ही ब्रह्म है, दूसरा नहीं।

गोस्वामी श्री तुलसी दास जी भी कहते हैं:—

जो सबके हो ज्ञान एकरस। ईश्वर जीवहिं भेद कहहु कस
सोहमऽस्मि इतिवृत्ति अखण्डा। दीप शिखा सोइ परम प्रचंडा
आतम अनुभव सुख सुप्रकाशा। तब भवमूल भेद भ्रम नाशा
(रामायण)

कहत सकल घट राम मय, तो खोजत केहि काज।
तुलसी कह यह कुमति सुनि, उर आवत अति लाज॥
(सतसई)

एक कवि का कहना है—

जाहिदे गुमराह का मैं किस तरह हमराह हूँ।
वह कहे अल्लाह है औ मैं कहूँ अल्लाह हूँ॥

अर्थः—कोई जाहिद (परहेजगार-त्यागी) ता है, परन्तु गुमराह (भुलानेवाला) है; तो उसका मैं कैसे हमराह (साथी) बनूँ। क्योंकि वह कहता है कि अल्लाह है और मैं कहता हूँ अल्ला मैं ही हूँ।

कहता है खुदा खुद से जुदा जानो अधूरा है।
दिखला दे जो खुद ही में खुदा पीर उसे कहते हैं॥

स्व-स्वरूप की स्थिति ही मोक्षावस्था है

बाह्य वासनाओं को त्यागकर अपने आप में स्थित हो जाना ही मोक्षावस्था है। सद्गुरु कबीर कहते हैं:—

जो तू चाहे मूझको, छाड़ि सकल की आश।
मुझ ही ऐसा होय रहो, सब सुख तेरे पास॥
तौ लौं तारा जगमगै, जौ लौं उगै न सूर।
तौ लौं जीव करम बस डोलै, जौ लौं ज्ञान न पूर॥
(बीजक)

श्री कृष्ण जी कहते हैं:—

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥

अर्थः—परन्तु जो मनुष्य आत्मा (अपने आप) में ही प्रेम करता तथा आत्मा में ही तृप्त होता और आत्मा में ही सन्तुष्ट होता है; उसके लिये कोई कर्तव्य (शेष) नहीं है।

पतञ्जलि महाराज कहते हैं:—

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।
(योग दर्शन १।२)

अर्थः—चित्त की वृत्तियों का निरोध करना (रोकना) ही योग है।

चित्त-निरुद्ध होने पर क्या होता है? इसपर पतंजलि महाराज कहते हैं:—

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्।
(योग दर्शन १।३)

अर्थः—तब द्रष्टा (चेतन) की स्व-स्वरूप में ही स्थिति हो जाती है।

गोस्वामी जी भी कहते हैं:—

'निज सुख बिन मन होइ कि थीरा?' (रामायण)

गुरु-विशाल का कहना है:--

मुक्ति मुक्ति सब कोइ कहै, मुक्ति न चीन्है कोय।
अपने से जो पृथक है, मुक्ति ताहि तजि होय॥
अपने बन्धन में पड़ा, मानि प्रयोजन भिन्न।
लखा ताहि को झूठ जब, तबही मुक्त अखिन्न॥
(मुक्तिद्वार)

गुरु पूरण देव कहते हैं:--

जासे सकलो परखिया, सो पारख निजरूप।
तहाँ होय रहु स्थीर तू, नहिं झाँई भ्रम कूप॥
(त्रिज्या)

सार यह हुआ कि अपने से पृथक् देह-गेहादि से लेकर मन-मानन्दी तक की आसक्ति को त्याग कर अपने आप चेतन स्वरूप में तृप्त हो जाना, मग्न हो जाना ही कल्याण-पद है। बाह्य आकर्षण-रहित अपने आप में स्थित पुरुष ही जीवन्मुक्त है। गुरु-कबीर का कथन है:--

जियत न तरेउ मुये का तरहौ, जियतै जो न तरे।
(बीजक)

इस बात को अन्य शास्त्र भी पुष्ट करते हैं :--

न मोक्षो नभसः पृष्ठे न पाताले न भूतले।
सर्वाशासंक्षये चेतः क्षये मोक्ष इतीर्यते॥
(योगवाशिष्ठ)

अर्थः--मोक्ष आकाश के पीठ पर नहीं है न पाताल में है और नहीं पृथ्वीतल पर। किन्तु सभी भोगों की वासनाओं के नष्ट होने पर जब चित्त स्थिर हो जाता है--इसी को मोक्ष कहते हैं।

सद्गुरवे नमः

सूचीपत्र

श्री कबीर-मन्दिर बड़हरा की सरल
धार्मिक पुस्तकें।

सत्कबीराब्द ५६८

वि० सं० २०२४] [सन् १९६७ ई०

महात्मा श्रीरामस्वरूप साहेब, श्री कबीर मन्दिर बड़हरा के आधार में प्रकाशित सरल धार्मिक पुस्तकें—

१—विवेक प्रकाश सटीक--ज्ञान, भक्ति, वैराग्य, सदाचार, स्त्री-शिक्षा, गृहस्थी-शिक्षा आदि अनेक धार्मिक प्रसंगों से यह ग्रन्थ सम्पन्न है। इसमें सभी विषयों को समझने के लिये लगभग १२५ दृष्टान्त दिये गये हैं। बीच-बीच में सौ के लगभग भजन, वन्दना, चेतावनी हैं। यह सर्वोपयोगी है। उत्तम (ग्लेज) कागज, पौने आठसौ पृष्ठों की पक्की जिल्द, मूल्य--७·०० (सातरुपये)।

२—बीजक-शिक्षा (व्याख्यायुत)--सद्गुरु कबीर के बीजक के पदों का इसमें संकलन करके उस पर सरल टीका-व्याख्या की गयी है। बीच-बीच में अनेकों दृष्टान्त, भजन, चेतावनी आदि हैं। ग्रन्थ अनूठा शिक्षाप्रद है। चिकना कागज, लगभग सात सौ पृष्ठों की पक्की जिल्द, मूल्य ५·०० ।

३--रहनि प्रबोधिनी सटीक--इसमें पदों की सरल टीका, फिर उस पर २१७ प्रश्नोत्तर--सामान्य से उच्चस्तर विषयों पर विषद विवेचन है। कल्याण-साधन के चौसठ सद्गुण सदाचारों की व्याख्या है। ग्रन्थ अत्यन्त सुरुचिकर है। उत्तम कागज, पौने पाँच सौ पृष्ठों की पक्की जिल्द, मूल्य ३·५०।

४--बोधसार सटीक--छः प्रकरणों में सरल टीका, सौ से ऊपर चित्ताकर्षक दृष्टान्त, अत्यन्त सुरुचिकर ग्रन्थ। ग्लेज कागज, मूल्य २·६८, पक्की जिल्द सहित ३·४८।

५--कबीर अमृतवाणी सटीक--सद्गुरु कबीर साहेब की बारह सौ से भी अधिक साखियाँ, उस पर सरल टीका। इकसठ (६१) विषयों पर विशद विवेचन। ग्लेज कागज, मूल्य २.६८ पक्की जिल्द सहित ३·४८।

६--मानसमणि सटीक--रामायण के तेईस (२३) पात्रों--श्रीरामजी, श्रीभरतजी आदि के जीवन प्रवचन से शिक्षाओं का संकलन किया गया है। मूल-पदों का सरल अर्थ करके सर्वसाधारणोपयोगी बनाया गया है।

७--श्रीराम-लक्ष्मण प्रश्नोत्तर शतक सटीक--यह विश्रामसागर से संकलित है। इसमें सौ उपदेशात्मक प्रश्नोत्तर हैं।

क्रमांक ६-७ दोनों पुस्तकें एक जिल्द में, मूल्य २.००।

८--तुलसीपंचामृत सटीक—गोस्वामी श्रीतुलसी दास जी के 'सतसई', 'दोहावली', 'कवितावली', 'विनयपत्रिका' और वैराग्यसंदीपनी—इन पाँच ग्रन्थों के उपदेशात्मक पदों का संग्रह करके सरल टीका कर दी गयी है। धर्म-नीति सभी प्रकार की सुरुचिकर शिक्षायें हैं। मूल्य १.८०।

९--वैराग्य संजीवनी--वैराग्य-वर्द्धक आकर्षक छन्दों में, बारह प्रकरणों के सहित, अन्त में गायन करने योग्य पचीस पद, पक्की जिल्द मूल्य १.५०।

१०--सरल शिक्षा—धर्मोपदेशक तीस लेख, चाणक्य-नीति, विदुरनीति, भर्तृहरिनीति, आदि के बाहर सौ से अधिक संकलित वचन। प्रत्येक श्रेणियों के मनुष्यों के योग्य मूल्य २ रुपये।

११—स्त्री-बाल शिक्षा-स्त्री बालकों के लिये परमोपयोगी। पीहर-ससुराल में स्त्रियों को कैसा

बर्ताव करना चाहिये ? माता-पिता, सास-ससुर, आदि के साथ कैसा व्यवहार रखना चाहिये--इन बातों को अनेक दृष्टान्तों एवं प्रकरणों में सरलता-पूर्वक बताया गया है मूल्य १'६०।

१२--कल्याण-पथ—इसमें ५४ स्वतन्त्र लेख हैं। यह कल्याण-इच्छुक साधकों के लिये परमोपयोगी है। मूल्य २'४० पक्की जिल्द ३'२०

१३—कबीरपन्थी-जीवनचर्या--उन्तीस प्रकरणों में यह बतलाने का प्रयत्न किया गया है कि कबीर-पन्थी गृहस्थ-भक्तों एवं विरक्त-ब्रह्मचारियों को किस प्रकार जीवन-यापन करना चाहिये। उनका मौलिक सिद्धान्त क्या है, और उसका आचरण वे कैसे करें ? मूल्य १ रुपया।

१४--जगन्मीमांसा—यह दार्शनिक ग्रन्थ है। इसमें वेद, उपनिषद्, पुराण, कुरान, बाइबिल, विकासवाद आदि के सृष्टि-उत्पत्तिक्रम पर आलोच-नायें प्रस्तुत करके सृष्टि-उत्पत्ति के भ्रम का निवारण किया गया है और जगत को अनादि सिद्ध किया गया है। मूल्य २'००, सजिल्द २'६८।

१५—आप किधर जा रहे हैं ?—इसमें चलीस श्रेणियों के मनुष्यों के लिये प्रेरणाप्रद शिक्षायें हैं। मानव जीवन के बहुमुखी विकास का यह आदर्श ग्रन्थ है। मूल्य १ रुपया।

१६—भजनावली—इसमें डेढ़ सौ से अधिक भजनों का संग्रह है। भजन सब गायन करने योग्य चित्ताकर्षक हैं, मूल्य ८० पैसे।

१७—हितोपदेश समाधान—इस ग्रन्थ में एक महात्मा तथा जिज्ञासु के महत्त्वपूर्ण प्रश्नोत्तर चले हैं। सभी बातें अत्यन्त उपयोगी हैं, मूल्य ६० पैसे।

१८—अहिंसा शुद्धाहार—इसमें अनेक युक्तियों से हिंसा-मांसाहार का खण्डन करके शुद्ध साकाहारी और अहिंसकी होने पर बल दिया गया है, मूल्य ६७ पैसे।

१९—भजन प्रवेशिका—सौ से अधिक गायन योग्य उत्तम-उत्तम भजन हैं, मूल्य ६७ पैसे।

२०—बोधसार मूल—साखी, चौपाई, छन्द, कुण्डलिया, शब्द आदि सुन्दर पद्यमय, मूल्य ०.५०।

२१—रहनि प्रबोधिनीमूल—चौपाई, साखी,

लावनी, छन्द, शब्द, गजल आदि मनोहर पद्यमय, मूल्य ०.४० ।

२२--विवेक प्रकाश मूल--साखी, शब्द, छन्द, लावनी आदि चित्ताकर्षक पद्यात्मक, मूल्य १.०० ।

२३---आदेश प्रभा—आठ बड़े-बड़े हरिगीत छन्द, गृहस्थी, विरक्ती सबके योग्य शिक्षायें, मूल्य ०.४० ।

२४--संत महिमा बड़ी--आलोचनात्मक, दृष्टान्तात्मक तथा प्रमाणात्मक--तीन प्रकरणों में सन्तों के महत्त्वों का विशद वर्णन, मूल्य ०.५४ ।

२५--सन्त महिमा छोटी--'सन्त महिमा बड़ी' का पहला प्रकरण, मूल्य ०.२० ।

२६--सरल बोध--तत्त्व-प्रकृति आदि जानने योग्य सौ से अधिक बातों का सुन्दर विवेचन, मूल्य ०.२५ ।

२७--मैं कौन हूँ--अपने आपके विषय में ज्ञान प्राप्त करने के लिये सुन्दर प्रामाणिक ग्रन्थ, सबको एक-एक प्रति अवश्य रखनी चाहिये, मूल्य ०.४० ।

२८--संत वचनामृत--इस ग्रन्थ रत्न में पचास बातें ऐसी बतायी गयी हैं, जो जीवन में उतारने योग्य हैं। मूल्य ०·१६।

—❀❀—

ग्रन्थों के मिलने के दो पते—

१—संतसेवक कमलसिंह,

ग्राम दर्रा, पो० हसदा (मानिकचौरी)

जनपद—रायपुर (म०प्र०)

२—बाबू बैजनाथप्रसाद बुकसेलर,

राजादरवाजा, वाराणसी—१
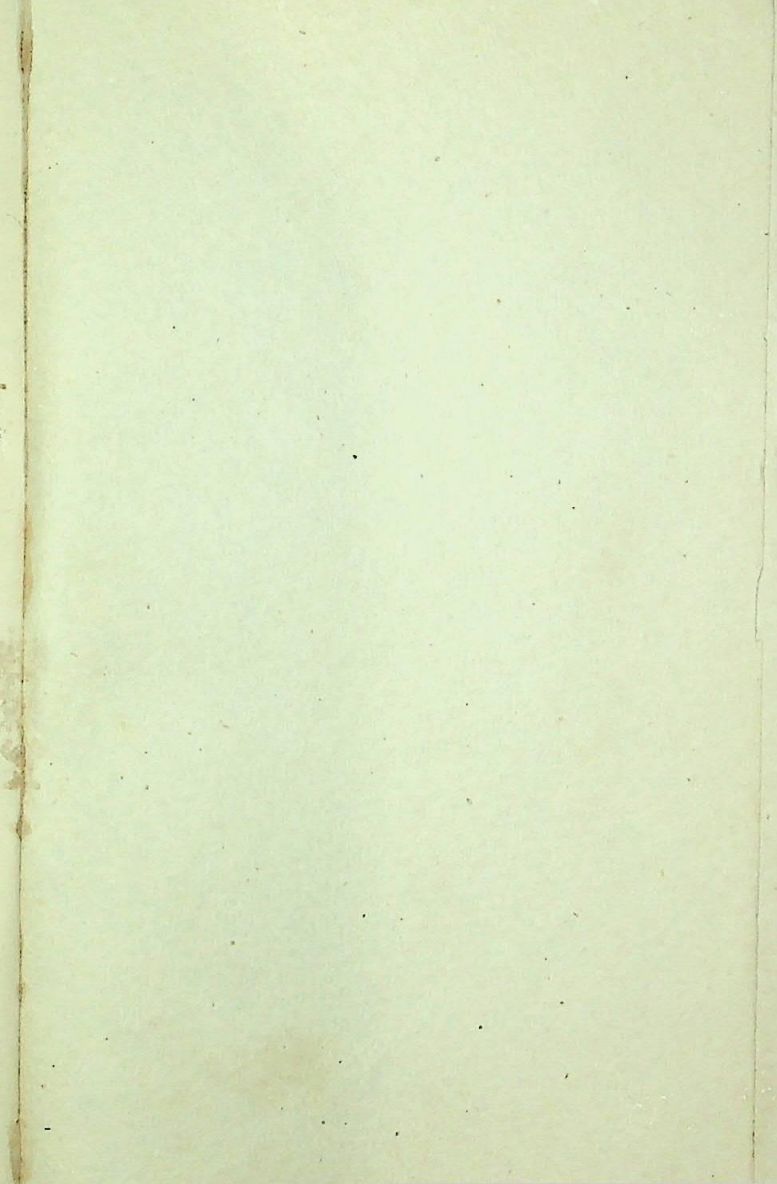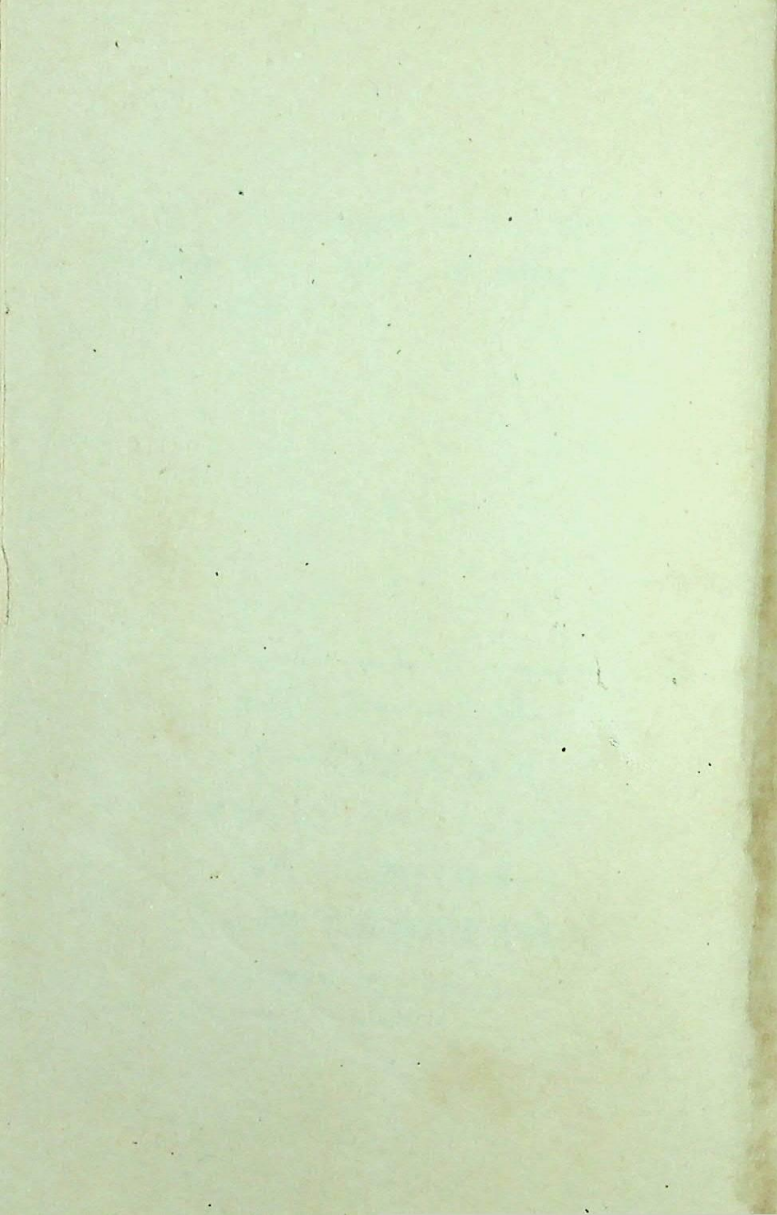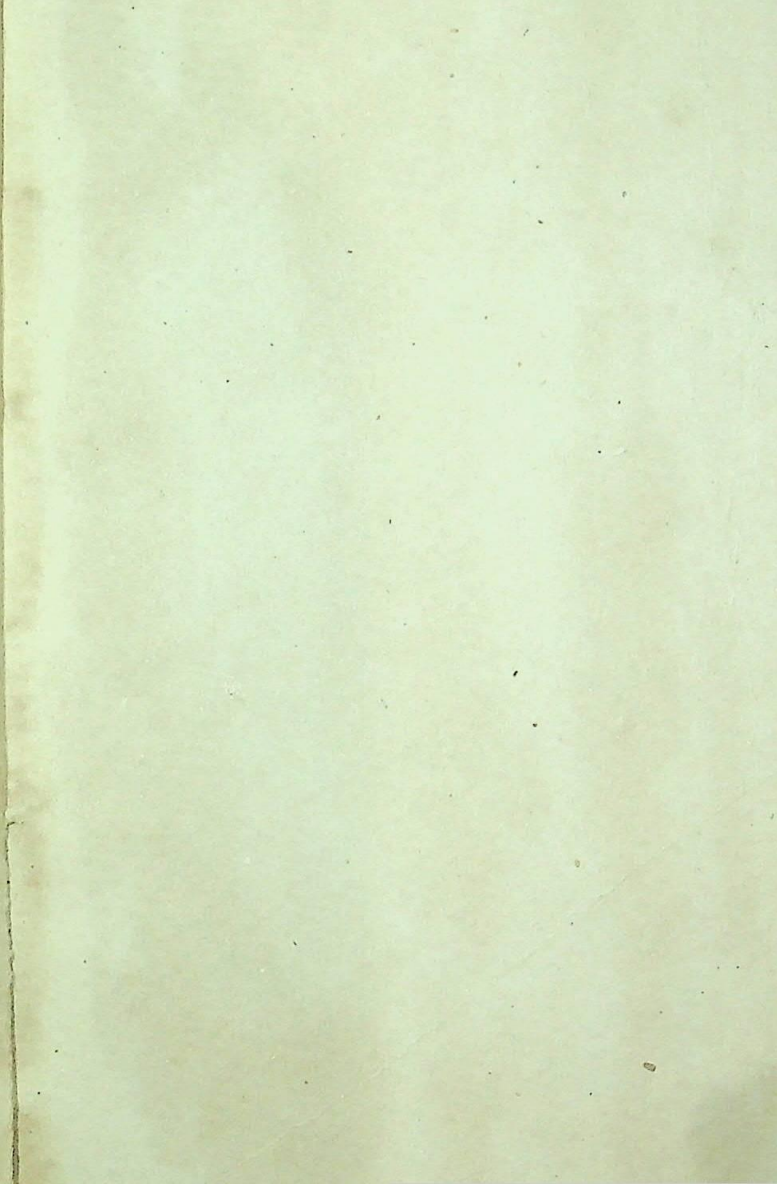
गुरु-कबीर पारख-दर्शन

जड़-चेतन—दो वस्तु अनादि और नित्य हैं, बीज-
वृक्ष न्याय प्रवाहरूप जगत् अनादि है। बाह्य
सभी कल्पनाओं एवं जड़ की आसक्तियों
को सर्वथा त्याग कर अपने आप
अविनाशी स्वतः द्रष्टा चैतन्य
स्वरूप में स्थित होना ही
मानव-जीवन का
परम एवं चरम
उद्देश्य
है।